₹ 200/-

अतिथि संपादक
प्रो. मजहर आसिफ

संरक्षक मण्डल
श्री लक्ष्मीनिवास झुनझुनवाला
श्री रघुपति सिंघानिया
श्री गोपाल जीवराजका
श्री आलोक बी. श्रीराम
श्री महेश गुप्ता
श्री रवि विग
श्री अनिल खेतान
श्री ललित कुमार मल्होत्रा
श्री सुबोध जैन
श्री सुदर्शन सरीन
श्री प्रदीप मुल्तानी

संपादक मंडल
श्री राम बहादुर राय
श्री अच्युतानंद मिश्र
श्री बलबीर पुंज
श्री अतुल जैन
डॉ. भारत दहिया
श्री इष्ट देव सांकृत्यायन

प्रबंध संपादक
श्री अरविंद सिंह
arvindvnsingh@gmail.com

सज्जा
श्री नितिन पंवार
nitin_panwar@yahoo.in

मुद्रण
कुमार ऑफसेट प्रिंटर्स
381, पटपड़गंज औद्योगिक क्षेत्र,
दिल्ली-110092

मंथन

सामाजिक व अकादमिक सक्रियता का उपक्रम

वर्ष-40, अंक-3 **जुलाई-सितंबर 2019**

गंधार विशेषांक–1

संपादक
डॉ. महेश चन्द्र शर्मा

प्रकाशक
एकात्म मानवदर्शन अनुसंधान एवं विकास प्रतिष्ठान
एकात्म भवन, 37, दीनदयाल उपाध्याय मार्ग, नई दिल्ली–110002
दूरभाष : 011–23210074
ईमेलः manthanmagzin@gmail.com, ekatmrdfih@gmail.com

अनुक्रम

1	लेखकों का परिचय		03
2	संपादकीय		04
3	अतिथि संपादक की ओर से		06
4	गंधार का राजनीतिक इतिहास	बी. के. कौल दिआंबी	08
5	पुरातन अफगानिस्तान	प्रो. डॉ. लोकेश चंद्र	14
6	गंधार कैसे बन गया कंधार?	राजीव मल्होत्रा	21
7	सीमा के प्रहरी : काबुल और गंधार की हिंदूशाही	आर. टी. मोहन	29
8	बुद्ध की प्रतिमा, इसका उद्भव और विकास	वाई. कृष्ण	38
9	भारतीय साहित्य में गंधार	सोनाली मिश्रा	40
10	गंधार: सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन	इष्ट देव सांकृत्यायन	43
11	पाणिनि : महान भाषाविद और भारतीय-पश्तो भाषा के सच्चे प्रतिनिधि	डॉ. ए. के. रशीद	47
12	सीमांत का एक देशभक्त : खान अब्दुल गफ्फार खान	देवेश खंडेलवाल	51
13	बामियान और विराट मूर्तियों की बौद्ध कला	प्रो. डॉ. लोकेश चंद्र	54

आनुषंगिक आलेख

1	षोडश महाजनपदों में गंधार		13

> भारत में 'आरंभिक मध्यकाल' (या सातवीं से ग्यारहवीं शताब्दी तक का काल) वास्तव में एक ऐसा काल है जिसकी, कुछ अपवादों को छोड़कर, इतिहासकारों की ओर से उपेक्षा की गई। भारतीय विश्वविद्यालयों में... प्राचीन इतिहास केवल मौर्य शासकों तक सीमित होकर रह जाता है... सातवीं शताब्दी में हर्ष के बौद्ध साम्राज्य के साथ ही इसका पटाक्षेप हो जाता है। इसके साथ ही यहाँ इतिहास अध्ययन की बत्तियां गुल हो जाती हैं और आरंभिक मध्यकालीन भारत के मामले में हम स्वयं को एक 'अंधकाल' में भटकते पाते हैं।
>
> **-आंद्रे विंक**

लेखकों का परिचय

प्रो. मजहर आसिफ : सूफी साहित्य और मध्यकालीन भारतीय इतिहास के विशेषज्ञ, नई दिल्ली स्थित जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में फारसी एवं मध्य एशियाई अध्ययन केंद्र में आचार्य।
संपर्क : mazharassam@gmail.com

प्रो. बी. के. कौल दिआंबी : कश्मीर विश्वविद्यालय में मध्य एशियाई अध्ययन केंद्र के पूर्व निदेशक. कॉर्पस ऑफ शारदा इंस्क्रिप्शंस ऑफ कश्मीर (दिल्ली, 1982), हिस्ट्री एंड कल्चर ऑफ एंशिएंट गंधार एंड वेस्टर्न हिमालयाज (नई दिल्ली, 1985) के लेखक।

प्रो. डॉ. लोकेश चंद्र : वैदिक काल, बौद्ध दर्शन एवं भारतीय कला संबंधी अध्ययन के प्रमुख विद्वान। भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद के पूर्व अध्यक्ष, राज्यसभा के पूर्व सदस्य, भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद के पूर्व अध्यक्ष और अभी इंटरनेशनल अकादमी ऑफ इंडियन कल्चर के निदेशक हैं। संपर्क : 011-26515800

राजीव मल्होत्रा : भारतीय-अमेरिकी लेखक, कम्प्यूटर और टेलीकॉम उद्योग में उत्कृष्ट करियर के बाद 1995 में समयपूर्व अवकाश ग्रहण। इनफिनिटी फाउंडेशन की स्थापना। फाउंडेशन का केंद्रीय विषय भारतविद्या अध्ययन है और साथ ही यह कोलंबिया विश्वविद्यालय की तिब्बती बौद्ध तेंग्युर अनुवाद जैसी परियोजनाओं को फंड भी करता है। संपर्क : infinity.foundation.india@gmail.com

आर.टी. मोहन : तेहरान स्थित भारतीय दूतावास में राजनयिक अधिकारी के पद से सेवानिवृत्ति के उपरांत अनुसंधान कार्य में प्रवृत्त। सातवीं से ग्यारहवीं शताब्दी के बीच अफगानिस्तान से होते हुए सशस्त्र मुस्लिम आक्रमण के विरुद्ध सफल हिंदू प्रतिरोध के इतिहास पर शोध और लेखन। संपर्क : mohyalhistory@gmail.com

वाई. कृष्ण : एक प्रतिष्ठित शासकीय अधिकारी, इतिहासवेत्ता एवं भारतविद्या के विद्वान रहे हैं। इतिहास एवं भारतविद्या से संबंधित कई पुस्तकें लिखी हैं।

सोनाली मिश्रा : इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केंद्र में प्रोजेक्ट एसोसिएट। कई पुस्तकों का अनुवाद। कहानियों का एक संकलन प्रकाशित। अनुवाद अध्ययन में पी-एच. डी.।
संपर्क : sonalitranslators@gmail.com

इष्ट देव सांकृत्यायन : वरिष्ठ पत्रकार एवं लेखक।
एकात्म मानवदर्शन अनुसंधान एवं विकास प्रतिष्ठान से संबद्ध।
कुछ कृतियों का लेखन एवं अनुवाद।
संपर्क : idsankrityaayan@gmail.com

डॉ. ए. के. रशीद : पश्तो के प्रतिष्ठित भाषाविद एवं लेखक।
नई दिल्ली स्थित जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के फारसी एवं मध्य एशियाई अध्ययन केंद्र में चेयर प्रोफेसर तथा
इस्लामिक रिपब्लिक ऑफ अफगानिस्तान के दूतावास के पूर्व सांस्कृतिक सलाहकार।
संपर्क : 9871878120

देवेश खंडेलवाल : माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय पत्रकारिता एवं संचार विश्वविद्यालय के रिसर्च फेलो हैं। उन्होंने डॉ. श्यामा प्रसाद मुखर्जी रिसर्च फाउंडेशन और एकात्म मानवदर्शन अनुसंधान एवं विकास प्रतिष्ठान के साथ भी काम कर चुके हैं।
संपर्क: deveshkhandelwal4@gmail.com,
Mob: 9999050947

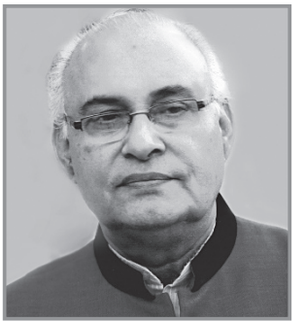

डॉ. महेश चन्द्र शर्मा

संपादकीय

प्राचीन काल से ही जब कभी भारत का परिचय करवाया जाता रहा है, तब कहते रहे हैं कि हिमालय के दक्षिण में तथा महासागर के उत्तर में जो भूखण्ड है वह भारत है। जो लोग वहां रहते हैं, वे भारत की संतानें हैं। इस संदर्भ में विष्णु पुराण का यह श्लोक सामान्यत: उद्धृत किया जाता है:

उत्तरम् यत् समुद्रस्य, हिमाद्रैश्चैव दक्षिणम्।
वर्षम् तद्भारतम् नाम, भारती तत्र संतति:॥

इस श्लोक में भारत का भूगोल एवं संस्कृति दोनों ही निगड़ित हैं। भारत तो प्राचीनतम राष्ट्र है। पाश्चात्य जगत् अभी तक राष्ट्र नाम की इस संज्ञा को अपने यहां स्थापित नहीं कर सका। उसके राष्ट्रवाद के विमर्श को 'राष्ट्र-राज्य' की अवधारणा तक पहुंचकर विराम लग गया। इस राष्ट्र-राज्य की अवधारणा ने सत्ता को राष्ट्र के ऊपर प्रतिष्ठित कर दिया है। संयुक्त राष्ट्रसंघ नामक एक संस्था का निर्माण किया गया है, वह किसी भी संप्रभु राज्य को जब मान्यता देता है तो वह आज की मान्य परिभाषा के अनुसार 'राष्ट्र-राज्य' कहलाने लगता है।

'राष्ट्र-राज्य' की इस परिभाषा के अंतर्गत अंग्रेजों ने दो डोमिनियनों में भारत और पाकिस्तान को सत्ता हस्तांतरित की। उनका वश चलता तो भारत की सभी रियासतें भी पृथक एवं स्वतंत्र 'राष्ट्र-राज्य' बन सकती थी। 'राष्ट्र-राज्य' की इस अवधारणा ने पहले दुनिया को उपनिवेशवादी साम्राज्यवाद दिया, बाद में दो विश्वयुद्धों एवं शीत युद्ध की सौगात दी तथा आज भू-मंडलीकरण के नाम पर ग्लोब को उत्तर व दक्षिण में बांट रहा है। राष्ट्र-राज्य एक प्रतिक्रियावादी एवं स्वार्थी इकाई है। सत्ता इसके प्राण हैं। यह एक कृत्रिम संज्ञा है। अत: हर दशक में राष्ट्र-राज्यों की संख्या घट-बढ़ जाती है तथा सीमाएं बदल जाती हैं।

लेकिन भारत शताब्दियों से हिमालय के दक्षिण एवं महासागर के उत्तर में स्थित भू-खण्ड के रूप में एक नैसर्गिक इकाई है तथा इसके राष्ट्रत्व के प्राण सत्ता में नहीं वरन् संस्कृति में है। 'सांस्कृतिक-राष्ट्र' की नैसर्गिक इकाई को आज राष्ट्र-राज्यों में बांट दिया गया है। राष्ट्र-राज्यों की सीमाओं को सेनाओं से घेर कर बंद कर दिया गया है। परिणामत: जन संचरण बाधित हो गया है। जन संचरण के अभाव में सांस्कृतिक सजीवता विरल हो जाती है। जन स्वयं अपने को ठीक से पहिचान नहीं पाता है। आज हम भारतीयों की यही स्थिति है कि हम स्वयं को ही नहीं पहिचानते हैं।

हिमालय तो एक सामान्य संज्ञा है। हिमालय की सीमाओं को जानना जरूरी है। प्राचीन भारत तो हिमालय के नीचे बसा है उसकी पश्चिमी छोर पर 'गंधार- प्रदेश' स्थित है, पूर्वी छोर पर त्रिविष्टव (तिब्बत) स्थित है जो म्यांमार अर्थात् बर्मा तक जाता है तथा महासागर में सिंहल द्वीप तक स्थित भारत का अस्तित्व है।

प्राचीन एवं मध्यकालीन विदेशी आक्रमणों तथा आधुनिक उपनिवेशवादी साम्राज्यवाद के आक्रमण ने तथाकथित 'राष्ट्र-राज्यों' में भारत को विभक्त कर दिया, हम स्वयं ही अपने दुश्मन हो गए। निश्चय ही हमें अपने सत्यास्तित्व को जानना चाहिए। आक्रांत सामाजिकता से मुक्त हो कर अपनी मूलभूत अस्मिता को समझना चाहिए।

इस अस्तित्वानुसंधान का मंच है, अपना यह त्रैमासिक 'मंथन'। हिमालय की उपत्यकाओं को जानने के निमित्त उसके पश्चिमी छोर पर स्थित प्राचीन गंधार, (जो आज अफगानिस्तान तथा पाकिस्तान के दो प्रदेशों पख्तूनिस्तान एवं बलूचिस्तान में बटा हुआ है।) के सत्यास्तित्व का अनुसंधान करना है।

राष्ट्र-राज्य की सशस्त्र सीमाओं ने जन संचार को रोक दिया है। विदेशी आक्रांताओं ने हमारे अतीत के सत्य को धुंधला कर दिया है। काल तो अखंड है, अपनी समझ के लिए हम उसे भूत-भविष्य एवं वर्तमान में बांटते हैं। यह बंटवारा अखण्ड सत्य को भी विभक्त करता है। इस भूमि के जन हम एकात्म हैं। मेरी एकात्मता का अधिष्ठान यह भूमि ही है, इसी ने हमको एक सांस्कृतिक परिधान दिया है।

गंधार के संदर्भ को ठीक से जानने समझने का यत्न हमने इस अंक में किया है। विद्वज्जनों के शोधपूर्ण आलेख हमें किंचित प्रबुद्ध बनाएंगे। आरोपित वर्तमान ने हमें जो आकार दे दिया है, वह हमारे सत्य स्वत्व को दबाने वाला है। मंथन का अनुसंधान सम्भवतः हमें इसके साक्षात्कार की दिशा में ले जाएगा।

इस अनुसंधानोपक्रम के लिए हमें जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के पर्शियन विभाग से बहुत सहायता प्राप्त हुई। पर्शियन विभागाध्यक्ष डॉ. मजहर आसिफ हमें अतिथि सम्पादक के रूप में प्राप्त हुए। जिस मनोयोग से उन्होंने 'मंथन' के इस अंक को समृद्ध किया है, वह निश्चय ही श्लाघनीय है। मैं उनके प्रति सादर आभार व्यक्त करता हूँ।

शुभम्।

डॉ. महेश चंद्र शर्मा
mahesh.chandra.sharma@live.com

प्रो. मजहर आसिफ

अतिथि संपादक की ओर से

यह बात लगभग साल १९९४ की है जब मैं जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय में छात्र हुआ करता था। एक दिन की बात है, मैं अपने मित्र डॉ. पुष्कर मिश्र, जो आजकल उत्तर प्रदेश में भाजपा के एक जाने माने नीतिकार हैं, के साथ गंगा ढाबा पर शाम के समय चाय पी रहा था। हमारी चर्चा के विषय दीनदयाल उपाध्याय जी थे। दौराने गुफ्तगू यह तय हुआ कि कल हम दोनों दीनदयाल शोध संस्थान चलते हैं। अगले दिन ठीक 10.30 बजे दीनदयाल शोध संस्थान करोल बाग पहुंचे। वहाँ देखा, एक शख्स सफेद कुरता-पायजामा में मलबूस कुर्सी पर विराजमान हैं, जिनके चेहरे से नूर और हाव-भाव से ज्ञान और मारेफत की खुशबू आ रही थी! उस दिन संस्थान से और उसके सचिव से जो संबंध और आत्मीयता की गांठ बंधी सो खोले न खुली और भुलाए न भूली। जो शख्स कुर्सी की शोभा बढ़ा रहे थे वह और कोई नहीं अपितु डॉ. महेश चन्द्र शर्मा जी थे।

इसी बीच नौकरी की तलाश भी मैंने शुरू कर दी। मगर संघी होने के कारण फारसी वालों के लिए अछूत ठहरा। जिसका कोई नहीं उसका खुदा है। अंततः सन १९९७ में माँ कामाख्या का बुलावा आया और मैंने गौहाटी विश्वविद्यालय ज्वाइन कर लिया। वहां शोध और शिक्षण में इस कदर मशगूल हुआ कि दुनिया और मफिहा की खबर ही न रही। न गुरु जी (डॉ. महेश चन्द्र शर्मा) ने मेरी खबर ली और न मैंने ही:

मुझ से आया न गया उनसे बुलाया न गया।
इस तरह प्यार की रस्म निभाई हमने॥

इस बीच अपनों की दुआ कुबूल हुई और नवंबर 2017 में तकरीबन 20 साल के बाद मेरी घर वापसी हो गई। जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय ज्वाइन करने के उपरांत एक दिन गुरुजी का फोन आया और मुझको 28, मीना बाग आने का आदेश हुआ। फरवरी महीने में २० साल के बाद गुरुजी का दर्शन हुआ। सलाम व पयाम के बाद गुरु जी ने कहा कि हम एक अनुसंधान पत्रिका 'मंथन' का प्रकाशन करते हैं और चाहते हैं के अगला अंक गंधार विशेषांक हो। इसमें तुम्हारे योगदान की जरूरत है। बहुत मसरूफियत के बावजूद मैंने हामी भर दी। विश्वविद्यालय वापस आया और अपने विभाग में काबुल विश्वविद्यालय अफगानिसतान से आए दो प्रसिद्ध प्रोफेसरों, डॉक्टर अब्दुल खालिक रशीद और डॉक्टर राशेद अल खैरी से शैक्षिक चर्चा आरंभ कर दी। यह निर्णय लिया गया कि अफगानिस्तान के नववर्ष 'नवरुज' का उत्सव मनाया जाए और एक सत्र अफगानिस्तान के प्राचीन इतिहास पर हो। 25 मार्च को कार्यक्रम का भव्य उद्घाटन अफगानिस्तान के राष्ट्रीय गीत से हुआ। जिसमें उज्बेकिस्तान के राजदूत महामहिम फरहाद आर जईवो, विश्वविद्यालय के कुलपति प्रोफेसर जगदीश कुमार, रेक्टर चिंतामणि महापात्र, डॉ. महेश चन्द्र शर्मा, इसा हबीबबा अली, अध्यक्ष अजरबैजान विज्ञान अकादमी और अफगानिस्तान के कल्चरल काउंसलर, सम्मानित और मुख्य अतिथि के रुप में उपस्थित थे। इसके अतिरिक्त फारसी और मध्य एशियाई भाषा अध्ययन केंद्र के संकाय सदस्य और छात्र भी बड़ी संख्या में उपस्थित थे। अंतिम सत्र में "मंथन" के गंधार विशेषांक की रूपरेखा पर विशेष चर्चा हुई।

इसी क्रम में एक दूसरी बैठक फारसी और मध्य एशियाई भाषा अध्ययन केंद्र के अध्यक्ष के कक्ष में आयोजित की गई जिसमें फारसी और पश्तो भाषा के विद्वानों के अलावा डॉ. महेश चन्द्र शर्मा जी भी मौजूद थे। इस मीटिंग में अनुसंधान लेखों और लेखन के लिए उनके वितरण पर चर्चा हुई।

इन चर्चाओं से एक बात तो साफ हुई कि प्राचीनकाल में पूरा अफगानिस्तान, ईरान के

सीस्तान व बलूचिस्तान सरहद तक अखंड भारत का ही हिस्सा था। इसका जिक्र रामायण, महाभारत और वैदिक साहित्य ही नहीं, पहलवी भाषा में लिखित पुस्तकों में भी मिलता है और यहाँ तक कि पश्तो जैसी लोकभाषाओं के साहित्य में भी। न केवल संस्कृत बल्कि दुनिया भर में व्याकरण और भाषाविज्ञान पर काम करने वाले और अब तक के सबसे उन्नत वैयाकरण एवं भाषा वैज्ञानिक पाणिनि मूलतः पश्तोभाषी थे। यही वजह है कि संस्कृत और पश्तो भाषाओं का संबंध बेहद नजदीकी है और दोनों ही भाषाओं में एक-दूसरे से बहुत शब्द आए-गए हैं। इस भाषिक आदान-प्रदान का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में विश्लेषण आप देख सकते हैं डॉ. ए. के. रशीद के शोध निबंध 'पाणिनि : महान भाषाविद और भारतीय-पश्तो भाषा के सच्चे प्रतिनिधि' में। गंधार क्षेत्र के सपूतों की बात करें तो भला खान अब्दुल गफ्फार खान को कोई कैसे भुला सकता है! भारतवर्ष की आजादी की लड़ाई में उनका जो अप्रतिम योगदान रहा और शुरू से ही उन्होंने विभाजन का जिस तरह प्रखर विरोध किया इसी वजह से उन्हें हम आज भी सरहदी गांधी के नाम से याद करते हैं। उनकी जिंदगी के अनछुए पहलुओं को उजागर करता है देवेश खंडेलवाल का शोध निबंध 'सीमांत का एक देशभक्त : खान अब्दुल गफ्फार खान'।

राजनीतिक रूप से भले ही हमारी भौगोलिक सीमाएं कई खांचों में बंट गई हों लेकिन सांस्कृतिक रूप से अभी भी गंधार क्षेत्र किस तरह बृहत्तर भारत का एक अभिन्न हिस्सा है, यह बात भारत और अफगानिस्तान की गोत्र-परंपराओं, पुराभिलेखों और लोकचेतना के कई अन्य तत्वों से जाहिर होती है। इन्हीं तत्वों का विश्लेषण-निरूपण करता है प्राच्यविद्याविद प्रो. डॉ. लोकेश चंद्र का शोध निबंध 'पुरातन अफगानिस्तान'। प्राचीनकाल में भगवान बुद्ध की भव्य प्रतिमाओं के लिए मशहूर रहे बामियान के नाम और वैदिक संस्कृति से इसके संबंधों का विश्लेषण करता प्रो. चंद्र का एक और शोध निबंध 'बामियान और विराट मूर्तियों की बौद्ध कला' भी इस दृष्टि से सहेजे जाने लायक है।

न केवल बौद्ध वरन समग्र भारतीय कला जगत की यात्रा में गंधार एक अत्यंत महत्वपूर्ण पड़ाव है। बुद्ध के बहाने भारतीय कला जगत से इस संबंध की व्याख्या करता हुआ एक शोधलेख 'बुद्ध की प्रतिमा, इसका उद्भव और विकास', जो वस्तुतः वाई. कृष्ण की एक पुस्तक का आमुख है, इस अंक में साभार शामिल किया गया है। भारत के महान विद्वानों में एक महापंडित राहुल सांकृत्यायन की हर संदर्भ में अपनी अलग दृष्टि है और उसकी वजह है ज्ञान के साथ-साथ उनकी व्यावहारिक अनुभवसमृद्धि। इस दृष्टि को स्पष्ट करता है इष्ट देव सांकृत्यायन का शोध निबंध 'गंधार : सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन'। रामायण और महाभारत जैसे कालजयी ग्रंथ ही नहीं, भारत का आधुनिक साहित्य भी गंधार क्षेत्र के पौराणिक चरित्रों की उपेक्षा नहीं कर सकता। सांस्कृतिक एकता के इस सूत्र का परिचय दिया है सोनाली मिश्रा ने अपने शोध निबंध 'भारतीय साहित्य में गंधार' में।

साहित्य, कला, भाषा आदि सभी सांस्कृतिक पक्षों के बाद ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में राजनीतिक पहलू को छोड़ दिया जाए तो बात अधूरी रह जाएगी। इस अंक में 'गंधार का राजनीतिक इतिहास' विषयक लेख शारदा लिपि के विद्वान बी.के. कौल दिआंबी की एक कृति से साभार लिया गया है। इसी गंधार क्षेत्र के केंद्रबिंदु को अब कंधार के नाम से जाना जाता है। गंधार के कंधार बनने की पूरी दास्तान बयान करता है विख्यात भारतविद राजीव मल्होत्रा का अनुसंधान लेख 'गंधार कैसे बन गया कंधार'। अरब से चली जिस विध्वंसक लहर ने बड़ी आसानी से उस समय की दो विश्व शक्तियों को जीत लिया, उसे ही खैबर घाटी में घुसने में पूरे 350 वर्ष लगे। इतने लंबे समय तक उनसे लोहा लेने वाले कोई और नहीं, उस क्षेत्र की हिंदूशाही थी। दुर्भाग्य से हमारे गौरवशाली इतिहास का यह हिस्सा अल्पज्ञात होकर ही रह गया है। इस दृष्टि से इतिहासविद आर. टी. मोहन का शोध निबंध 'सीमा के प्रहरी: काबुल और गंधार की हिंदूशाही' इस अंक की विशिष्ट उपलब्धि है। बातें तो मेरे मन में अभी और भी बहुत हैं, लेकिन वह सब अगले अंक के संपादकीय में।

प्रो. मजहर आसिफ

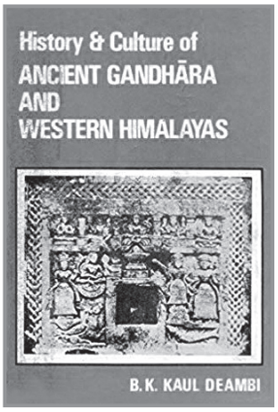

बी. के. कौल दिआंबी

गंधार का राजनीतिक इतिहास

विश्व में विमर्श के सर्वाधिक महत्वपूर्ण विषयों में एक गंधार ने अपने इतिहास में बहुत तरह के उतार-चढ़ाव देखे हैं। किसी समय में यह भारतवर्ष के षोडश महाजनपदों में से एक था। बाद में कई विदेशी आक्रमणों का दंश झेलते हुए अंततः यह अलग हो गया। यद्यपि सांस्कृतिक रूप से हम अभी भी एकात्म हैं। इसके अतीत के राजनीतिक पक्ष को जानना काफी रोचक है

उत्तर-पश्चिम भारत के इस प्रसिद्ध राजतंत्र के आरंभिक इतिहास का पता लगाना, उसकी रूपरेखा तैयार करना समीचीन है, जो भारत के सीमांत गलियारे के रूप में कार्य करता हुआ विश्व में विमर्श के सर्वाधिक महत्वपूर्ण बिंदुओं में से एक रहा है।

गंधार ऋग्वेद और अथर्ववेद में उत्तर-पश्चिम भारत के लोगों के रूप में उल्लिखित गांधारी का नया रूप है।[1] ऋग्वेद में भेड़ के उत्तम ऊन का उल्लेख मिलता है।[2] अथर्ववेद में मुजवंतों, अंगों और मागधों के साथ गांधारियों का उल्लेख है।[3] ऐतरेय ब्राह्मण में गंधार का चित्रण किसी नग्नजीत द्वारा शासित एक देश के नाम के रूप में मिलता है।[4]

बौद्ध साहित्य अंगुत्तर निकाय में गंधार का उल्लेख सोलह महान राजवंशों (सोलह महाजनपदों) में किया गया है, जो ईसा पूर्व छठी शताब्दी में उत्तर भारत में अस्तित्व में थे।[5] जब बौद्ध सिद्धांत की रचना हुई, उस समय गंधार का साम्राज्य सिंधु के दोनों ओर फैला था और उसमें सिंधु के पूर्व के रावलपिंडी व अटक और पश्चिम के पेशावर, बन्नू तथा कोहाट जिले शामिल थे।

छठी शताब्दी के मध्य गंधार पर राजा पुक्कुसाति का शासन था, जो मगध के राजा बिंबसार का समकक्ष था।[6] ईसा पूर्व छठी शताब्दी के उत्तरार्ध में गंधार संभवतः अकेमेनियाई शासकों के नियंत्रण में चला गया क्योंकि दारा (डेरियस) के बहिस्तून के शिलालेख में गंधार नामक एक देश या कौम पर उस शासक के आधिपत्य का उल्लेख है।[7] उन दिनों गंधार सागवान की लकड़ी के लिए प्रसिद्ध था। सूसा में डेरियस ने जो भव्य प्रासाद बनवाया था उसके लिए सागवान की लकड़ी गंधार से ही मँगाई गई थी।

यूनानवासी गंधार को गंधराइट्स और इसकी प्रतिष्ठित राजधानी पुष्कलावती को पियूकेलाओतेस के रूप में जानते थे। मकदूनिया के आक्रमण के समय, गंधार के पूर्वी भाग पर ओम्फिस या आंभी का और पश्चिमी भाग पर आस्तेस या अष्टकराज का शासन था, जिसकी राजधानी पुष्कलावती या यूनानी में पियूकेलाओतेस थी।[8] यह गंधार का समृद्ध नगर उद्भांडपुर, आज का ओहिंद अथवा उंद, था जिसे ईसा पूर्व 326 में राजा आंभी ने विजेता सिकंदर को दूतावास के रूप में दिया। सिकंदर के आक्रमण से इस क्षेत्र पर मकदूनिया का कोई स्थायी आधिपत्य नहीं हुआ किंतु इसके फलस्वरूप गंधार में यूनानी कला और संस्कृति का आगमन हुआ।

मकदूनियाई विजेता के जाने के कुछ ही वर्षों बाद मौर्य नरेश चंद्रगुप्त ने गंधार के समस्त क्षेत्र को अपने साम्राज्य में मिला लिया। गंधार में मौर्य शासन अशोक के अधीन जारी रहा, जिसके खरोष्ठी और अरामाइक लिपियों में लिखित शिलालेख इस क्षेत्र में मिले हैं।[9] हमें बौद्ध जातकों और यूनानी स्रोतों से पता चलता है कि तक्षशिला गंधार की राजधानी थी, जिसे तत्कालीन कलाओं और विज्ञानों के लिए प्रसिद्ध विश्वविद्यालय वाले शहर के रूप में शताब्दियों तक समस्त विश्व में जाना जाता रहा।

गंधार में मौर्य शासन को हराकर हिंद-यूनानियों ने अपना शासन कायम किया। हिंद-यूनानियों में मिलिंद (मिनांडर) सबसे महान था जो प्रसिद्ध बौद्ध साहित्य मिलिंदपान्हो (मिलिंदप्रश्न) का नायक है, जिसमें बौद्ध धर्म से जुड़े कई महत्वपूर्ण विषयों पर मिलिंद और महान् बौद्ध सावंत नागसेन के बीच वार्तालाप संकलित है। अगाथोक्लीज और पैंटेलियन की मुद्राओं को छोड़कर प्रायः सभी हिंद-यूनानी शासकों की मुद्राओं पर एक ओर खरोष्ठी लिपि में और दूसरी ओर यूनानी में अनुश्रुतियाँ उल्लिखित हैं। अगाथोक्लीज और पैंटेलियन की मुद्राओं पर खरोष्ठी के

स्थान पर ब्राह्मी लिपि का उपयोग हुआ है।

ईस्वी सन् के आरंभ होने के कुछ ही समय पहले, मोअ के नेतृत्व में शकों ने गंधार को अपने कब्जे में ले लिया। शकों को गोंडोफर्नीस के नेतृत्व में पार्थिवों ने उखाड़ फेंका। पेशावर जिले के तख्त-ए-बाही में गोंडोफर्नीस का खरोष्ठी लिपि में लिखा शिलालेख मिला है।[10]

शक और पार्थिव शासन के बाद गंधार को कुषाणों ने अपने आधिपत्य में ले लिया। इस वंश के सबसे महान शासक कनिष्क की राजधानी पुरुषपुर या पेशावर थी। पुरुषपुर में उसने 400 फुट ऊँचे स्मारक का निर्माण कराया जो उस युग का एक आश्चर्य है, जिसकी छठी और सातवीं शताब्दी में भारत आए चीनी यात्रियों क्रमशः सुन-युन व ह्युएन त्सांग ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है। गंधार के इतिहास में कुषाण युग को उत्कृष्ट युग माना जा सकता है, एक युग जिसमें कला, विज्ञान और साहित्य का अभूतपूर्व विकास हुआ। यह वह युग था जिसके दौरान बौद्ध धर्म, विशेष रूप से उसकी महायान शाखा को अभूतपूर्व लोकप्रियता प्राप्त हुई और गंधार के निधान में अंकुरित गंधार कला के रूप में विख्यात कला धारा का उल्लेखनीय विकास हुआ। आरंभिक कुषाण शासक अपनी मुद्राओं पर यूनानी लिपि का उपयोग करते थे। किंतु, उनके शासन काल के शिलालेखों में खरोष्ठी का व्यापक रूप से उपयोग मिलता है। कुषाण शासन के उत्तरार्ध में, जिसे सामान्यतः किदार कुषाण कहा जाता है, उनकी मुद्राओं पर ब्राह्मी लिपि का उपयोग मिलता है। हाजरा जिले के ऐबटाबाद में किसी कदंबेश्वरदास का एक ब्राह्मी शिलालेख भी मिला है।[11] यह शिलालेख 25 ईस्वी, जो डी. सी. सरकार के अनुसार गुप्त युग का है, और 344 ई. से संबंधित है।[12]

कुषाण वंश के उत्तरार्ध के राजाओं के दुर्बल शासन के दौरान गंधार पर कुछ समय के लिए ससानियनों ने कब्जा कर लिया, जिन्होंने फारस में एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी। नक्श-ए-रुस्तान (ईरान) के अग्नि मंदिर की दीवारों पर शाहपुर प्रथम के तीन भाषाओं में उत्कीर्णित प्रसिद्ध शिलालेख में काबुल व गंधार में कुषाण क्षेत्र के एक विशाल हिस्से पर ससानिदों के नियंत्रण का उल्लेख है।[13] इस क्षेत्र में ससानिद मुद्राएँ भारी संख्या में पाई गई हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि कुषाणों ने शीघ्र ही किदार के नेतृत्व में स्वयं को स्वतंत्र घोषित कर दिया, जिनकी गंधारमें भारी संख्या में मिली मुद्राओं पर ब्राह्मी महानायक किदार-कुषाण-शाह उत्कीर्ण है।[14]

ईस्वी सन् के आरंभ होने के कुछ ही समय पहले, मोअ के नेतृत्व में शकों ने गंधार को अपने कब्जे में ले लिया। शकों को गोंडोफर्नीस के नेतृत्व में पार्थिवों ने उखाड़ फेंका। पेशावर जिले के तख्त-ए-बाही में गोंडोफर्नीस का खरोष्ठी लिपि में लिखा शिलालेख मिला है

कुषाण शासन संभवतः ईस्वी सन् की पाँचवीं शताब्दी के मध्य तक अस्तित्व में रहा, जब उसके पतन के बाद हूणों का शासन शुरू हुआ। छठी शताब्दी के लगभग मध्य तक आते-आते हूणों का पतन हो गया और फिर शीघ्र ही तुर्की शाही वंश ने गंधार को अपने कब्जे में ले लिया जो काबुल और गंधार में फलता-फूलता रहा और ईस्वी सन् की नौवीं शताब्दी के मध्य तक शासन करता रहा।

अल-बरूनी ने इस वंश का एक विवरण दिया है, जिसमें इस वंश के शासकों के तिब्बती मूल के होने का उल्लेख है। अल-बरूनी कहता है, ''हिंदुओं के राजा काबुल में रहते थे, तुर्क जिन्हें तिब्बती मूल का माना जाता था।''[15] अल-बरूनी के अनुसार इस वंश का पहला शासक बरहतीकिन था, जिसने पड़ोसी देशों को अपने साम्राज्य में मिला लिया और उन पर काबुल के एक शाहिया नाम से शासन किया। सन् 1753-754 में गंधार की यात्रा पर आए ऊकोंग ने अल-बरूनी के वृत्तांत की पुष्टि की जिसने उस देश को तुर्की मूल के एक परिवार के शासन में देखा। ह्वेन सांग की यात्रा के समय गंधार के तुर्की शाही शासक कश्मीर शासन[16] के अधीन थे और ललितादित्य के शासन तक उनके अधीन रहे, जिसके दरबार में कुछ शाही राजकुमारों को अति उच्च पद प्राप्त थे।[17] इस वंश की राजधानी उद्भांडपुर थी, जिसका अल-बरूनी ने वाहिंद के रूप में उल्लेख किया है। यह आज का उंद या हुंद है, एक गाँव जो सिंधु नदी के दाएँ तट पर अटक से लगभग पंद्रह मील दूर स्थित है।[18]

कल्लरपाल

इस वंश का अंतिम शासक लघुतरमन था, जिसे अल-बरूनी के अनुसार उसके ब्राह्मण वजीर ने कैद कर लिया था, जिसने हिंदू शाही वंश नामक एक स्वतंत्र वंश की स्थापना की।[19] अल-बरूनी कल्लर के प्रति और कोई जानकारी नहीं देता है। किंतु, उसका उल्लेख पाकिस्तान के गंदून क्षेत्र में हाजरा के निकट देवल से प्राप्त हमारे अति प्राचीन शारदा अभिलेख में मिलता है।[20] यह शिलालेख शाही राजा भीमदेव का है जिसका इस अभिलेख में वर्णन 'श्रीकल्लर (पा) ल वंशोद्भव', अर्थात प्रख्यात कल्लरपाल वंश में उत्पन्न के रूप में हुआ है। इस प्रकार ब्राह्मण शाही वंश के संस्थापक के नाम से संबद्ध अल-बरूनी के वृत्तांत की पुष्टि पुरालेखीय साक्ष्य से हो जाती है।

कल्हण ने अपनी 'राजतरंगिणी' में लल्लीय नामक शाही राजा का उल्लेख किया है जो कश्मीर के शंकरवर्मा (सन् 883-910) का समकालीन था और जिसकी राजधानी उद्भांडपुर थी।[21] उसका राज्य दरदों के बीच था जो सिंधु के पार गिलगित, सिलास और बुंजी के क्षेत्रों के चित्राल और यासीन से कश्मीर व तुरुसकस के ठीक उत्तर किशनगंगा घाटी तक फैले हुए थे।[22] मुस्लिम आक्रमणकारी, जिन्हें शाहियों ने रोका था, उनके दुर्गों को तोड़ने और भारतीय भूभाग में प्रवेश करने का प्रयास कर रहे थे।

राजतरंगिणी की इस लल्लीय शाही को अल-बरूनी ने कल्लर से जोड़कर देखा है।[23] लल्लीय की शक्ति, उसकी राजधानी और जिस क्षेत्र पर उसने शासन किया उसके विवरण से पता चलता है कि बहुत संभव है कि लल्लीय शाही और कल्लर दोनों एक ही व्यक्ति के द्योतक हों। किंतु इस परिचय को स्वीकार करना कठिन है। ब्राह्मण शाही का जो वृत्तांत अल-बरूनी ने प्रस्तुत किया है उसे बहुत हद तक विश्वसनीय माना जाना चाहिए क्योंकि इस विषय पर साधिकार लिखने वाला वह सबसे पहला व्यक्ति है और शाहियों के जिस समय की वह चर्चा कर रहा है वह उसका

समकालीन है और यदि ब्राह्मण शाही वंश का संस्थापक लल्लीय होता, तो अल-बरूनी ने उस संस्थापक का नाम दिया होता न कि कल्लर का। प्रो. सीबोल्ड ने संकेत दिया है कि जैसा कि हम पाते हैं, अल-बरूनी की एकमात्र अरबी पांडुलिपि इंडिका में लल्लीय के स्थान पर कल्लर का उल्लेख गलत है और व्यक्तिवाचक नामों की पुरालेखीय विशिष्टता के कारण अरबी पांडुलिपियों में उनकी प्रतिलिपि बनाने में अकसर गलतियाँ हो जाती थीं।[24] किंतु, ऊपर उल्लिखित हमारे पुरालेखीय साक्ष्य के मद्देनजर यह मान लेना कठिन है कि ब्राह्मणशाही वंश का संस्थापक कल्लर नहीं लल्लीय था। ऊपर जिस देवई शिलालेख का उल्लेख किया गया है, उसके आधार पर यह मान लेना उचित है कि ब्राह्मणशाही वंश का संस्थापक कल्लरपाल था और कल्लर उसका लघु अथवा अरबी नाम हो सकता है।

उत्खनन में भारी संख्या में रजत एवं ताम्र मुद्राएँ मिली हैं, जिनके एक ओर ककुदमान बैल और दूसरी ओर शिव के त्रिशूल के साथ-साथ शारदा महानायक स्यालपति अथवा सपलपतिदेव अंकित है।[25] थॉमस के अनुसार इन मुद्राओं का सपलपति हमारा शाही राजा कल्लर है।[26] यद्यपि स्यालपति और कल्लर नामों में दूर-दूर तक कोई समानता नहीं है। थॉमस इस कल्पना के आधार पर उन्हें एक मानता है कि संस्कृत नामों का अरबी में लिप्यंतरण करते समय अरबी प्रतिलिपिकार बड़ी गलतियाँ कर जाते थे। वह इस पर भी ध्यान दिलाता है कि अरबी प्रतिलिपिकारों की गलतियों को ध्यान में रखते हुए अरबी पांडुलिपियों के सहारे हिंदू नामों की पहचान करने का प्रयास करने की बजाय हमें मुद्राओं के ही निर्विवाद अभिलेख के माध्यम से सही करना चाहिए और मुद्राओं को राजाओं से जोड़ने की बजाय राजाओं को उनकी अपनी मुद्राओं से जोड़कर देखना चाहिए। किंतु, एडवर्ड थॉमस के इस मत से इलियट जैसे विद्वान सहमत नहीं हैं जो कहते हैं: ''यह कल्पना की एक पराकाष्ठा है और परिकल्पित अभिनिर्धारण का कोई महत्व नहीं है।''[27] कनिंघम के अनुसार संस्कृत के समरपति सेनापति या प्रधान सेनापति से मिलता-जुलता सपलपति ईरान, पार्थिया, हिरकानिया और आर्मेनिया में युद्ध मंत्री की प्रचलित उपाधि

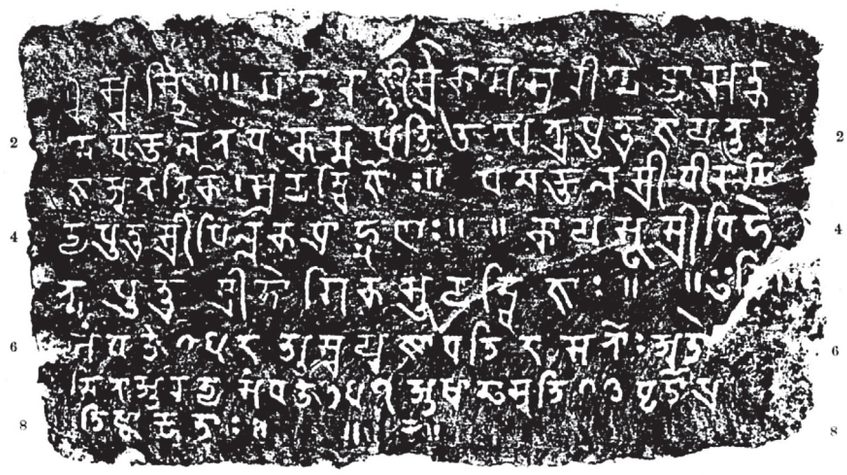

हुंद से प्राप्त शारदा लिपि का एक अभिलेख

थी। वह कल्लर को राजा का निजी नाम और सपलपति को पदनाम मानने की सलाह देते हैं, जिससे उसे वास्तव में जाना जाता था।[28] प्रतिपाल भाटिया सांड़ और अश्वारोही की पहली मुद्राओं को स्पलपति के महानायक से जोड़ती हैं, उनके अनुसार हुमा मुद्रा बरहतकिन से मिलती-जुलती है।[29] वह उसी शृंखला की अंतिम मुद्राओं का संबंध कल्लर से बताती हैं, जिसके एक तरफ क अक्षर अंकित है। उनका तर्क यह है कि 'क' कल्लर नाम के संक्षिप्त रूप का द्योतक है।[30]

कल्लरपाल के प्रति और जानकारी न तो हमारे अपने अभिलेखों में और न ही मुद्राशास्त्र के स्रोतों में मिलती है। किंतु उसने अपने नाम कल्लर या ससिद कल्लर पर एक मंदिर का निर्माण कराया, जो अटक जिले के शाह मुहम्मद वली गाँव से लगभग तीन किलोमीटर दूर स्थित है।[31]

सामंतदेव

ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। किंतु, उसका संबंध कुछ ताम्र मुद्राओं के सामंतदेव से जोड़ा गया है, जिनके एक ओर बर्छाधारी अश्वारोही और दूसरी ओर एक लेटे हुए सांड़ तथा उसके ऊपर हाशिये पर सामंतदेव की जनश्रुति अंकित है।[32] इस प्रकार की मुद्राएँ भारी संख्या में मिली हैं, जिन पर शारदा जनश्रुति सामंतदेव अंकित है, और ये मुद्राएँ न केवल शाहियों बल्कि तोमरों और चाहमानों तथा उनके बाद मुस्लिम आक्रमणकारियों तक के लंबे समय तक चलती रहीं। इससे पता चलता है कि सामंतदेव एक अति शक्तिशाली राजा था और हो सकता है कि अल-बरूनी का राजा समंद इन ताम्र मुद्राओं पर अंकित सामंतदेव ही हो।[33]

कमलू

अल-बरूनी के अनुसार, समंद के बाद कमलू राजा बना।[34] हमेशा की तरह अल-बरूनी से इस राजा के प्रति भी कोई जानकारी नहीं मिलती है। किंतु, कमलू को कमलोवा से जोड़ा गया है, जिसे मुहम्मद औफी ने अपनी 'जवामी उल-हिकायात' में हिंदुस्तान का राय व सफ्फरिद शहजादा और इब्न लायत (879-900 ई.) का समकालीन बताया है, जिससे उसने अफगानिस्तान के शहर बड़की-बराक से नौ किलोमीटर दूर स्थित सकवंद में लड़ाई की।[35]

कल्हण के अनुसार, राजा गोपालवर्मन (902-904 ई.) के कोषाध्यक्ष प्रभाकरदेव ने उद्भांडपुर में शाही राज को पराजित कर दिया और विद्रोही शाही का यह राज लल्लीय के बेटे तोरमन को सौंप दिया, और उसे कमलुक (नया नाम) दिया।[36] अल-बरूनी और 'जवामी उल-हिकायात' के कमालू को राजतरंगिणी के कमालुक से जोड़ा गया है।[37]

यह बात सच हो सकती है कि अल-बरूनी का कमलू और मुहम्मद औफी का कमलोवा एक थे, किंतु कल्हण के वृत्तांत पर विश्वास करना कठिन है। कुछ अज्ञात कारणों से वह विद्रोही शाही के नाम का उल्लेख नहीं करता। फिर गोपालवर्मा का जो समय कल्हण[38] ने बताया है, वह औफी[39] के कालानुक्रम के अनुकूल नहीं है, जिसके अनुसार कमलू

गोपालवर्मा से बहुत पहले गद्दी पर बैठा। वहीं, इसमें पर्याप्त संदेह है कि शाहियों के विरुद्ध गोपालवर्मन के सिपाही का अभियान तथ्य पर आधारित है। कश्मीर के सर्वाधिक शक्तिशाली राजाओं में से एक और गोपालवर्मन के पूर्ववर्ती शंकरवर्मन (883-902 ई.) के प्रति 'राजतरंगिणी' से जो विवरण मिलता है, उससे स्पष्ट है कि वह शाहियों के विरुद्ध कोई खास जीत हासिल नहीं कर सका।[40] इसमें संदेह है कि गोपालवर्मन ने, जिसने कोई लड़ाई नहीं जीती थी और जो केवल दो वर्षों तक गद्दी पर रहा, अपने से अधिक शक्तिशाली शाहियों के विरुद्ध कोई लड़ाई की हो।

कमलू का कोई पुरालेखीय विवरण अभी तक नहीं मिल पाया है।

भीमदेव

अल-बरूनी के अनुसार अगला राजा भीम था, जो निस्संदेह वही है, जिसका उल्लेख ऊपर वर्णित उसके शासन काल के देवई शिलालेख, उसके उत्तराधिकारी जयपालदेव[41] के समय के हुंद के पट्ट लेख और राजतरंगिणी[42] से मिलता है। देवई शिलालेख में भीम का वर्णन परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर की संप्रभु उपाधि से युक्त शाही के रूप में किया गया है। उसका उल्लेख गदा-हस्त के रूप में भी किया गया है, जो इस बात का संकेत देता है कि वह वैष्णव धर्म का अनुयायी था। इसमें उसे कल्लरपाल का वंशज भी बताया गया है। हुंद शिलालेख में उसका वर्णन उद्भांडपुर के पूर्व शासक, राजाओं के प्रमुख (भूभृताम्-मुख्यो) और महापराक्रमी (भीमपराक्रम:) के रूप में किया गया है, जिसने अपने शत्रुओं को परास्त किया और इस प्रकार अपने राज्य की रक्षा की। यद्यपि अभिलेख में भीम के शत्रुओं के नामों का कोई विशेष विवरण नहीं मिलता, किंतु अब्दुर्रहमान के अनुसार अलप्तिगिन, जिसे शाही सैनिकों की सहायता से अबू' अली लाविक ने गज्न से निकाल दिया था, का बेटा अबू इशाक इब्राहिम उसका शत्रु था।[43]

राजतरंगिणी में भीमदेव का उल्लेख उद्भांडपुर के शाही राजा के रूप में किया गया है, जो लोहरा के राजा की बेटी और कश्मीर के राजा क्षेमगुप्त (950-958 ई.) की पत्नी रानी दिद्दा का नाना था। कश्मीर में विष्णु के पवित्र मंदिर भीमकेशव की स्थापना का श्रेय भी उसी को है।

इस प्रकार भीमदेव अपने नाम के अनुरूप शाही वंश का एक अति शक्तिशाली राजा था, जिसने न केवल अपने राज्य की बल्कि अपनी दौहित्री के अंगीकृत देश की सत्ता का संचालन भी किया। देवई और राजतरंगिणी दोनों वैष्णव धर्म के प्रति उसके झुकाव की पुष्टि करते हैं। उसके नाम पर सामान्य स्थिति में लेटे हुए ककुद वाले बैल और बर्छाधारी अश्वारोही के चित्रों तथा नायक श्री भीमदेव संबंधी अनुश्रुति युक्त मुद्राएँ जारी की गईं।[44]

जयपालदेव

जयपालदेव भीमदेव का उत्तराधिकारी था इस तथ्य की पुष्टि ऊपर वर्णित अल-बरूनी के वृत्तांत और हुंद के शिलालेख से हो जाती है। मुस्लिम इतिहास में भी गज्नी के यामिनी राजाओं के शत्रु के रूप में जयपाल का उल्लेख विशेष रूप से हुआ है। हुंद शिलालेख के अतिरिक्त जयपाल की जानकारी ऊपरी स्वात में बारीकोट के उत्तर मिले उसके शासनकाल के एक और शिलालेख से भी मिलती है।[45] इस शिलालेख में, जो अब लगभग विरूपित हो गया है, जयपाल का परमभट्टारक और महाराजाधिराज की सर्वोच्च उपाधियों के साथ उल्लेख मिलता है। इसमें यह उल्लेख भी है कि किसी ने वजीरस्थान (आज का वजीरिस्तान) में किसी चीज की स्थापना की। इस अभिलेख में जयपाल का कोई विस्तृत विवरण नहीं है, किंतु यह उल्लेख है कि उसके राज्य की सीमा स्वात घाटी तक फैली थी। वर्ष 146 के हुंद पट्ट लेख में सिंहासनारूढ़ शासक के रूप में जयपाल का उल्लेख है, जब भगवान शंकर को समर्पित एक मंदिर का किसी पांगुल के बेटे कंगुलवर्मन ने अभिषेक किया। अभिलेख में जयपाल के प्रति कोई ऐतिहासिक जानकारी नहीं है, इसमें जयपाल का जो संक्षिप्त विवरण है वह पूर्णत: जनश्रुतियों पर आधारित है। इस प्रकार, उसका वर्णन 'स्वर्ग से उतरा एकमेव नायक जिसकी पवित्र प्रतिष्ठा ब्रह्मा से भी अधिक शाश्वत है'[46] के रूप में किया गया है।

जयपाल का संपूर्ण जीवन गज्ना के यामिनी राजाओं के आक्रमणों का मुकाबला करने में बीता। उत्बी ने अपनी तारीख-ए-यामिनी, फरिश्ता ने अपनी तारीख-ए-फरिश्ता और निजामुद्दीन ने तबकाती अकबरी में यामिनी शासकों सुबक्तिगिन व महमूद के विरुद्ध उसके वीरतापूर्ण संघर्ष का विस्तृत उल्लेख किया है। इन स्रोतों के अनुसार रणभूमि में जयपाल को कई बार पराजय का मुँह देखना पड़ा और एक के बाद एक पराजय का अपमान सह्य नहीं होने के कारण उसने अपने बेटे आनंदपाल को गद्दी सौंप कर एक चिता पर जिंदा आत्मदाह कर लिया।

जयपाल का काल

ऊपर वर्णित हुंद पट्ट लेख वर्ष 146 का है, जिसके अनुसार उस वर्ष माधव अथवा वैशाख शुक्ल पक्ष की पंचमी तिथि को जयपाल का राज्यारोहण हुआ।[47] वर्ष 146 किस युग का है, यह ज्ञात नहीं है। ऊपर उल्लिखित मुस्लिम स्रोतों के अनुसार जयपाल के शासन का अंत महमूद के हाथों 8 मुहर्रम 392 यानी 27 नवंबर, 1001 को उसकी पराजय के एक वर्ष बाद 1002 ई. में हुआ।[48] हुंद पट्ट लेख के अनुसार जयपाल भीमदेव का उत्तराधिकारी था, जो सन् 958 से 1003 तक कश्मीर की वास्तविक शासक रही रानी दिद्दा का नाना था। उसने सन् 950 से 958 तक चले क्षेमगुप्त के शासन के दौरान दानस्वरूप भीम केशव का एक मंदिर बनवाया। जैसा कि ऊपर कहा गया है, भीमदेव ने सन् 963 ई.[49] में अलप्तिगिन के बेटे अबू इशाक इब्राहिम पर अबू' अली लविक के आक्रमण में भी भाग लिया था जो भीमदेव के शासन काल की अंतिम ज्ञात तिथि और संभवत: अंतिम महत्वपूर्ण घटना है। वर्ष 965 में जयपाल के राज्यारोहण के बाद संभवत: शीघ्र ही भीमदेव की मृत्यु हो गई।

जयपाल का संपूर्ण जीवन गज्ना के यामिनी राजाओं के आक्रमणों का मुकाबला करने में बीता। उत्बी ने अपनी तारीख-ए-यामिनी, फरिश्ता ने अपनी तारीख-ए-फरिश्ता और निजामुद्दीन ने तबकाती अकबरी में यामिनी शासकों सुबक्तिगिन व महमूद के विरुद्ध उसके वीरतापूर्ण संघर्ष का विस्तृत उल्लेख किया है

इस प्रकार, ऐसा प्रतीत है कि जयपाल ने सन् 965 से 1002 तक राज्य किया।

प्रश्न उठता है कि वर्ष 146 किस युग का है। अब्दुर रहमान[50] और प्रो. जगन्नाथ अग्रवाल[51] का मानना है कि विवादास्पद युग शाही युग है जिसका आरंभ इलियट[52] के अनुसार सन् 850 में और अब्दुर्रहमान[53] के अनुसार सन् 843 में कल्लर अथवा कल्लरपाल के राज्यारोहण के समय हुआ। इससे स्पष्ट हो जाता है कि वर्ष 146 का संबंध या तो 996 से या फिर 986 से है और इन दोनों कालखंडों के बीच जयपाल का शासन था।

कश्मीर, चंबा और कांगड़ा के हमारे लगभग समस्त अभिलेख लौकिक या सप्तर्षि युग के हैं जिसे शास्त्र युग कहा जाता है। शास्त्र वर्ष 9 अथवा सन् 1133 ई.[54] के मसूद के गग्गी (स्वात) शिलालेख और पेशावर संग्रहालय के लौकिक वर्ष 538 अथवा सन् 1461 से 970-71 के वण्हडक शिलालेख से पता चलता है कि यह युग गंधार में भी प्रचलित था और जयपाल का शासन भी इसी युग में था।

अनंतदेव और रानी कामेश्वरी देवी

गंधार के हमारे दो अन्य अभिलेख भी हुंद, प्राचीन उद्भांडपुर, से ही मिले हैं। पहला श्वेत प्रस्तर के एक आयताकार पट्ट पर उत्कीर्ण है, जिसमें महाराज्ञी श्री कामेश्वरीदेवी द्वारा निर्मित एक मंदिर (देवकुल) का उल्लेख है जिसकी प्राण प्रतिष्ठा संवत 154 से 157[55] के बीच हुई। दूसरा सफेद संगमरमर के शिलाखंड पर उत्कीर्णित है, जिसका कुछ ही अंश उपलब्ध है। इसमें अनंतदेव नामक राजा और तुरुस्कों के साथ उसके संघर्ष का उल्लेख है।[56] यह दूसरा अभिलेख पहले का समकालीन है क्योंकि इसमें मंदिर के निर्माण से संबद्ध तीन व्यक्तियों का उल्लेख अनंतदेव के अभिलेख में भी मिलता है।

हमारे अभिलेख में राजा नृपति के रूप में उल्लिखित अनंतदेव की जानकारी अन्य किसी स्रोत में नहीं मिलती। उसका उल्लेख तुरुस्कों

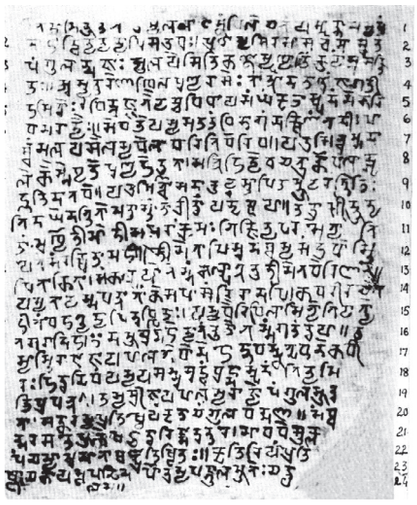

उद्भांडपुर (हुंद) के राजा देव जयपालदेव के समय का एक अभिलेख

की बढ़ती और दुर्जेय शक्ति को निरंतर निष्फल करने के कार्य में कुशल के रूप में किया गया है।[57] तुरुस्क अरब या विशेष रूप से यामिनी शक्तियों के द्योतक हो सकते हैं। विवरण में देखा जा सकता है कि यामिनी आक्रमणकारियों के आक्रामक और विस्तावरवादी उद्देश्यों को नाकाम करने के प्रयास में अनंतदेव उनके साथ लंबे समय तक संघर्ष करता रहा।

अनंतदेव के घटनाकाल कामेश्वरीदेवी के शिलालेख में उल्लिखित घटनाकालों अर्थात् वर्ष 154 और 157 से बहुत दूर नहीं हैं। इन वर्षों की गणना यदि उक्त शाही युग से जोड़कर की जाए, तो फल सन् 997 और 1000 या 1004 तथा 1007 और यदि गणना लौकिक युग से जोड़कर की जाए तो सन् 978-79 और 981-82 के रूप में निकलेगा। जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, यह वह काल था जब हुंद या उद्भांडपुर पर जयपाल का शासन था। दो शासक एक समय में एक ही स्थान पर शासन नहीं कर सकते थे, इसलिए माना जा सकता है कि अनंतदेव अपने संप्रभु राजा जयपाल के अधीन मुख्य शासक था किंतु अभिलेख में उल्लिखित अनंतदेव की नृपति की उपाधि से ऐसा नहीं लगता कि वह अधीनस्थ था।

इस तरह अपने वर्तमान ज्ञान के आधार पर हम यह कह सकने की स्थिति में नहीं हैं कि जयपाल से अनंतदेव का क्या संबंध था और दोनों शासकों के सामने रानी कामेश्वरीदेवी की क्या स्थिति थी।

जयपाल के बाद आनंदपाल और उसके बाद गद्दी पर बैठा किंतु इन दो अंतिम शासकों का कोई पुरालेखीय अभिलेख नहीं मिला है।

गंधार में हिंदू शाही वंश के शासन का अंत सन् 1021 में हो गया जब महमूद गजनी ने त्रिलोचनपाल को मार डाला।

मुस्लिम कालक्रमों के अतिरिक्त महमूद की जानकारी हमें उसकी कुछ मुद्राओं से भी मिलती हैं, जिनमें मुहम्मदन कलीमा का संस्कृत भाषा और शारदा लिपि में अनुवाद है। इन मुद्राओं में अब (ठ)यक्तम एक, मुहम्मद अवतार, नृपति महमूद, एक शाश्वत, मोहम्मद दूत, महमूद राजा की कथा है। इन्हीं मुद्राओं पर वृत्ताकार में लिखी कथा इस प्रकार अंकित है - अयम तंकम महमूद-पुरे घटिते हिज्रियेना संवत 418, तंक को हिज्री वर्ष 418 अथवा सन् 1027 में महमूद-पुरा में मार डाला गया।[58]

महमूद के बाद उसका बेटा मसूद गद्दी पर बैठा जिसके शासनकाल का एक शिलालेख स्वात के बर्दवान के उत्तर-पश्चिम घग्गाई में मिला है, जो शारदा लिपि में है।[59] यह शिलालेख शास्त्र (सप्तर्षि) वर्ष 9 अर्थात सन् 1033 ई. में लिखा गया। इस अभिलेख में जिस शासक उल्लेख है, वह हम्मीर है जो फारसी अमीर का संस्कृत रूप है - एक उपाधि जो गजनी के शासक धारण करते थे। सन् 1030 में महमूद की मौत हो गई, इसलिए यह स्पष्ट है कि अभिलेख में हम्मीर उपाधि के साथ जिस मुस्लिम शासक का उल्लेख हुआ है वह महमूद का बेटा और उत्तराधिकारी मसूद है, जो सन् 1031 में गजनी के राजसिंहासन पर बैठा। ■

(पुस्तक 'हिस्ट्री एंड कल्चर ऑफ एंशिएंट गंधार एंड वेस्टर्न हिमालयाज' से साभार)

संदर्भ संकेत

1. *मैकडॉनल्ड, ए., और कीथ, ए. बी., वेदिक इंडेक्स ऑफ नेम्स एंड सब्जेक्ट्स, खंड 1, पृ. 219।*
2. *आरवी..1। 126. 7*
3. *एवी., वी. 22. 14.*
4. *ऐतरेय ब्राह्मण, 6, 34.*
5. *अंगुत्तर निकाय, सं. आर. मॉरिस एवं ई. हार्डी। पीटीएस। लंदन। 1। 213: 4। 252, 256, 260; टीआर. एफ. एल. वुडवर्ड, लंदन, 1951, खंड 1, पृ. 192।*

6. रिस डेविड्स, टी. एन. बुद्धिस्ट इंडिया, पृ. 28।
7. सेन सुकुमार, ओल्ड पर्सियन इन्सक्रिप्शन, कोलकाता, 1941, पृ. 6।
8. एरियन (अनबासि इंडिया) सं. ए. जी. रॉस, लीपजीग, 1907; अँग्रेजी अुनवाद ए. जी. चिंचुक, लंदन, 1873, पृ. 28।
9. सीआई, खंड 1, पृ. 50-84।
10. सीआईआई, खंड 2, पृ. 57-62।
11. ईआई., खंड 30, पृ. 59
12. वही (तत्रैव)
13. मुखर्जी, बी. एन., दि कुषाण जिनियालॉजी, पृ. 86।
14. मार्टिन, एम. एफ. सी. ''कॉइन ऑफ दि किदार कुषाण'', न्युमिज्मैटिक सप्लिमेंट (जेआरएएसबी) 47 पृ. 23-50।
15. अल-बरूनी'ज किताब-अल-हिंद, अनु. ई. सी. सखाऊ, लंदन, 1888, खंड 2 पृ. 10 और अन्यत्र
16. वॉटर्स, थॉमस, ऑन यूवान च्वांग्स ट्रैवेल्स इन इंडिया, लंडन 1904, 1, पृ. 122 और आगे।
17. कल्हण, राजतरंगिणी, 4, पृ. 142-143।
18. स्टीन, ए., राजतरंगिणी, अँग्रेजी अनु. खंड 2, नोट जे, पृ. 337।
19. उद्धृत पुस्तक, पृ. 13।
20. ईआई., खंड 21, पृ. 298 और आगे; जगन नाथ अग्रवाल, ''सम न्यू लाइट ऑन दि हिंदू शाहीज ऑफ काबुल एंड उद्भांडपुर'' वीआईजे, अंक 48, पृ. 427 और अन्यत्र।
21. आरटी., वी. 152-155।
22. स्टीन, उद्धृत पुस्तक, खंड 1, वीएसएस. 312-316 एफएन, पृ. 46।
23. वही, खंड 2, नोट जे., पृ. 336।
24. वही
25. कनिंघम, ए., कॉइन्स ऑफ मेडिएवल इंडिया, वाराणसी, 1967, पृ. 63 और आगे, स्मिथ, वी. ए., कॉइन्स ऑफ एन्सिएंट इंडिया, वाराणसी, 1972, पृ. 246 और आगे
26. थॉमस, एडवर्ड, ऑन दि कॉइन्स ऑफ दि डाइनेस्टी ऑफ हिंदू किंग्स ऑफ काबुल, जेआरएएस, खंड 9, पृ. 180।
27. डाउसन, जॉन, दि हिस्ट्री ऑफ इंडिया ऐज टोल्ड बाई इट्स ओन हिस्टोरियन्स, लंदन, 1869, खंड 2, पृ. 421।
28. पूर्वोक्त पुस्तक, पृ. 58।
29. न्युमिज्मैटिक क्रॉनिकल, 1968, पृ. 277।
30. वही
31. मिश्र योगेंद्र, दि हिंदू शाहीज ऑफ अफगानिस्तान एंड दि पंजाब, पटना, 1972, पृ. 12 और आगे।
32. अग्रवाल, जे. एन., पूर्वोक्त पुस्तक, पृ. 428।
33. किंतु, कुछ विद्वानों का मानना है कि नायक सामंत-देव कोई व्यक्तिगत नाम नहीं बल्कि स्पालपति-देव की तरह की एक उपाधि है और इसे बाद के शाही शासकों ने अपनाया, ठीक उसी प्रकार जैसे वंश के आरंभिक शासक स्पालपति-देव का उपयोग करते थे। तुलनीय अलचिन, एफ. आर. एवं हैमंड, एन., दि आर्कियॉलॉजी ऑफ अफगानिस्तान, न्यूयॉर्क, 1978, पृ. 254।
34. सखाऊ, पूर्वोक्त पुस्तक, पृ. 13।
35. निजामुद्दीन, ''ए कंप्लीट टेबल ऑफ कंटेंट्स ऑफ दि ज्वामी'-अल-हिकायत'', पृ. 164।
36. कल्हण, आरटी., वी. 232-233।
37. निजाम-उ-दीन, पूर्वोक्त पुस्तक, पृ. 164, स्टीन, अनु. आरटी., वीएसएस. 232-233 एफएन.
38. आरटी., ट्रो., खंड 1, पृ. 217।
39. निजाम-उ-दीन, पूर्वोक्त पुस्तक, पृ. 164
40. आरटी., 5. 152-155, स्टीन टीआर. खंड 2, नोट जे, पृ. 339।
41. अब्दूर रहमान, जर्नल ऑफ सेंट्रल एशिया, पेशावर, 1979, खंड 9, अंक 1, पृ. 71 और अन्यत्र।
42. आरटी., 6. 178, 7. 1081।
43. रहमान, पूर्वोक्त पुस्तक, डेट ऑफ दि हुंद मार्बल स्लैब इन्सक्रिप्शन भी देखें, पूर्वोक्त पुस्तक, खंड 3, 1980, पृ. 55 और अन्यत्र।
44. कनिंघम, पूर्वोक्त पुस्तक, पृ. 64 और आगे।
45. ई1, खंड 21, पृ. 301 और आगे।
46. रहमान, पूर्वोक्त पुस्तक, पाठ्य पंक्ति 11।
47. वही पाठ्य पंक्ति् 13।
48. रेनॉल्ड्स, जे., अँग्रेजी अनु. तारीखी यामिनी ऑफ उत्बी, लंदन, पृ. 281 और अन्यत्र।
49. रहमान, पूर्वोक्त पुस्तक
50. वही
51. एपिग्रैफिकल सोसाइटी ऑफ इंडिया के 9वें सम्मेलन का अध्यक्षीय संबोधन, गोरखपुर, 1983।
52. डाउसन, पूर्वोक्त पुस्तक, पृ. 1125।
53. रहमान, पूर्वोक्त पुस्तक।
54. वोगेल, एंटिक्विटीज, परिशिष्ट 1, पृ. 259।
55. ईआई., खंड 10, पृ. 80 और अन्यत्र।
56. ई1., खंड. 22, पृ. 97। डी. आर. साहनी ने मंदिर की प्राण प्रतिष्ठा की तिथि 168 और 169 बताई है, जो गलत है। पूर्वोक्त पुस्तक।
57. ई1., खंड 38, पृ. 94 और अन्यत्र।
58. कनिंघम, पूर्वोक्त पुस्तक, पृ. 65-66।
59. पूर्वोक्त पुस्तक

षोडश महाजनपदों में गंधार

षोडश महाजनपदों के नाम: 1. कुरु, 2. पंचाल, 3. शूरसेन, 4. वत्स, 5. कोशल, 6. मल्ल, 7. काशी, 8.अंग, 9.मगध, 10.वृज्जि, 11.चेदि, 12.मत्स्य, 13.अश्मक, 14.अवंति, 15.गंधार और 16. कंबोज। उक्त 16 महाजनपदों के अंतर्गत छोटे जनपद भी होते थे।

गंधार : गंधार का अर्थ होता है सुगंध। गांधारी गंधार के 'सुबल' नामक राजा की कन्या थीं। क्योंकि वह गंधार की राजकुमारी थीं, इसीलिए उनका नाम गांधारी पड़ा। यह हस्तिनापुर के महाराज धृतराष्ट्र की पत्नी और दुर्योधन आदि कौरवों की माता थीं। गांधारी के अलावा उसी क्षेत्र से दो अन्य माताएं भी हैं, जिनकी भारतीय साहित्य और समाज में बहुत चर्चा होती है और जिन्होंने हमारी संस्कृति को प्रभावित किया है। ये हैं कैकेयी और माद्रि। कैकेयी गंधार के पड़ोसी केकेय (बलूचिस्तान) और माद्रि मद्र (जम्मू-कश्मीर) जनपद की राजकुमारी थीं। गंधार प्रदेश भारत के पौराणिक 16 महाजनपदों में से एक था। गंधार महाजनपद के प्रमुख नगर थे- आज के पाकिस्तान का पश्चिमी तथा अफगानिस्तान का पूर्वी क्षेत्र उस काल में भारत का गंधार प्रदेश था। आधुनिक कंधार इस क्षेत्र से कुछ दक्षिण में स्थित था। ■

प्रो. डॉ. लोकेश चंद्र

पुरातन अफगानिस्तान

केवल गंधार ही नहीं, आज के अफगानिस्तान के लगभग पूरे क्षेत्र का वर्णन वैदिक काल से ही भारतीय साहित्य में किसी न किसी रूप में मिलता है। यह अलग बात है कि अफगान लोगों को लगभग एक हजार साल पूर्व अपनी जड़ों से कटना पड़ा, पर वे हैं अपनी जड़ों पर गर्व करने वाले लोग। उन जड़ों की तलाश का एक प्रयास सांस्कृतिक साक्ष्यों के सहारे

अफगानिस्तान का वर्तमान स्वरूप रूस और ब्रिटिश साम्राज्य के बीच 19वीं सदी में पारस्परिक वार्ता से निर्धारित हुआ था। उस समय तक इस क्षेत्र का नामकरण इसमें बसने वाले कबीलों के नाम के आधार पर होता आया था। उत्तरी भाग को 1960 तक तुर्किस्तान और कांटगन (जो कि प्रमुख उजबेक कबीले थे) कहा जाता था। मध्य भाग को आज भी हजारा कबीले के नाम पर हाजरजात पुकारा जाता है। 14वीं शताब्दी से लेकर 1747 में वर्तमान राज्य का रूप धारण करने तक यही अफगानिस्तान उस क्षेत्र का प्रतिनिधित्व करता है जहां पख्तून रहते हैं। सम्राट हबीबुल्ला (1901-1919) की शाही उपाधि थी ''ईश्वर प्रदत्त राज्य अफगानिस्तान तुर्किस्तान और उसके अधीनस्थ राज्यों का स्वामी।'' अंतत: सम्राट अमानुल्लाह (1919-1929) ने आधिकारिक रूप से पूरे क्षेत्र का नाम अफगानिस्तान रख दिया। अफगान लोग अपने पूर्वजों पर गर्व करते हैं, इसलिए अपने देश को 'आर्याना' 'आर्यों का देश' कहते थे और उनकी राजकीय वायु सेवा का नाम आज भी 'आर्याना' एयरलाइन है। एक हजार वर्ष पूर्व अफगान अपनी उन जड़ों से कट गए जो कि हजारों वर्ष से सुदृढ़ और मजबूत रही थीं। अफगानिस्तान का गंधार क्षेत्र ही ऐसा है जो भारतीय संगीत के सात सुरो में स्थान पा सका है ' सा रे गा मा पा धा नि सा ' में तीसरा सुर 'गा' गंधार है। यह समय की धमनियों में बहने वाले रक्त के ओज का प्रतीक है, यह लय की देवी के चरणों में समर्पित गंधार के यौवन को अमर करता है। संस्कृत के पुरातन शास्त्रीय ग्रंथ 'संगीत रत्नाकर' के अनुसार 'गा' सुर की उत्पति दैवी है (अयम् तु देवकुल - संभूत:)।

'गंधार' शब्द गंध, 'खुश्बू' से बना है। यह सांस्कृतिक सुगंधि का देश है जो कि इसके विशाल और सर्वत्र बिखरे खंडहरों की मादक परतों में छुपे काल के विभिन्न क्षणों में संदर्भित है। मेरा गोत्र 'मंगल' है। जो मेरे अफगान भाइयों का भी है। साम्यवादी शासन के दौरान वहां के उप प्रधानमंत्री का नाम सरवर मंगल था। पंजाब में अनेक वंशों के नाम उन्हें धारण करने वालों के अफगानी अतीत के सूचक हैं जिन्हें ग्यारहवी सदी के पश्चात अपने देश को छोड़ देना पड़ा था। बामी (दिल्ली की टेलीफोन डायरेक्टरी में बामी उपनामधारी 47 लोग हैं) बामियान के रहने वाले थे। कक्कड़ लोग ककरक से हैं (जहां बुद्ध की एक विशालकाय मूर्ति है), सीकरी वंश के लोग लोरियन तंगल घाटी स्थित सीकरी से हैं जहां कभी असंख्य शिखरों वाली नगरी विद्यमान थी। इसीलिए सीकरी ('शिखरी' अर्थात 'शिखरों वाले') कहलाए। लाहौर के म्युजियम में प्रस्तुत मूर्तियां और पत्थर के 2500 नक्काशीदार वास्तुकला के नमूने सीकरी से हैं। बाही और भल्ला लोग 'बाहलिका' या 'बैक्ट्रिया' से हैं जो आधुनिक बल्ख है, जहां कभी मठो में बुद्ध की मूर्तियां भरी पड़ी थीं।

अफगानिस्तान ऐसे स्थानों के नामों से भरा पड़ा है जो संस्कृत भाषा से लिए गए हैं। ऋग्वेद (5.53.9) में अफगानिस्तान की चार नदियों की स्तुति में कहा गया है कि वे सभी प्रकार के सुख देने वाली हों। ये चार नदियां हैं रसा, अनिताभा, कुभा और क्रुमु। कुभा, काबुल नदी है। क्रुमु अब कुर्रम कही जाती है, रसा को रंधा या राई कहते हैं। ऋग्वेद में ही एक अन्य ऋचा (10.75.6) यहां की रसा, क्रुमु और गोमती आदि नदियों का उल्लेख करती है जो अपने असीम प्रवाह में दमकती, राज्यों के बीच से विशाल आवेगयुक्त प्रवाह से बहती, असंख्य रथों पर सवार और शाही पोशाकों में दमकती तथा धन-धान्य से पूर्ण हैं। गोमती अब 'गोमल' है। कुछ नामों का स्पष्टीकरण नहीं

हो पाया है। अफगानिस्तान में चार महत्वपूर्ण नदियों का जाल है। वे हैं काबुल, हरि-रुद अरगंदब-हेलमंद और ऑक्सस जो इसकी उत्तरी सीमा का निर्माण करती है। काबुल नदी की घाटी में जो लोग बसे हैं, मार्कण्ड डेय पुराण में उन्हें 'कुभक' कहा गया है। उत्तर से पंजकोरा नदी इसमें आकर मिलती है। इसका प्राचीन नाम गौरी है जो कि ग्रीक नाम गौरेयस अथा 'गुरेयस' से संबंधित है। कुर्रम और गोमल नदियां जो पश्चिम से पूर्व की ओर बहती हैं उनका ऋग्वेद में 'क्रुम' और गोमती के रूप में उल्लेख पहले आ चुका है। गोमती का अर्थ है 'गो' अर्थात् प्रभूत जल प्रवाह वाली नदी। हरि-रुद पूर्व से पश्चिम को बहती है और इसके दाहिने तट पर हेरात शहर बसा है। प्राचीन काल में हेरात का उच्चारण 'सरयू' तथा अवेस्ता ग्रंथ में 'हरयु' किया गया है जिससे आधुनिक समय में 'हेरात' बना। यह ग्रीक भाषा के 'ऐरियस' शब्द से संबंधित है और इसी आधार पर ग्रीक लोगों ने हेरात प्रांत का नाम 'ऐरिया' कर दिया। अरगंदब भी अंततः अनेक ध्वन्यात्मक परिवर्तनों के पश्चात सरस्वती से ही बना है। अवेस्ता में यह 'हरह्वैति' बना तथा ग्रीक में 'अरकाओती' बना, जिससे इस क्षेत्र को, जहां यह बहती है, अरकोसिया नाम मिला है। ध्वनि परिवर्तन है -

स	र	स्व	ती	(संस्कृत)
ह	र	ह्वै	ति	(अवेस्ता)
अ	र	काओ	ति	(ग्रीक)
अ	र	को	सि-आ	(ग्रीक)

(-इयाजैसाइंडिया में है)।

हेलमंद अवेस्ता में 'हेतुमंत' और संस्कृत में 'सेतुमंत' है। 'सेतुमंत' का अर्थ है पुल सहित, मुर्गव नदी हिंदुकुश पर्वत की पश्चिमी ढलानों से निकलती है और तुर्कमेनिस्तान के बीच से बहती है और इसके बाएं किनारे पर 'मर्व' बसा है। यह संस्कृत का 'मृग' अवेस्ता का मौरू, पुरानी फारसी का 'मर्गु' और ग्रीक 'मर्गिआना' क्षेत्र है जिससे होकर यह नदी बहती है। महाभारत में 'मृगों' का वर्णन शकों के चार कबीलों में से एक के रूप में आता है। 'मर्व' में संस्कृत में पांडुलिपियां मिली हैं। डैरियस के साम्राज्य में 'मर्गिआना' एक क्षत्रपी थी। 'हिंदुकुश' इस क्षेत्र की सर्वाधिक प्रभावशाली भौगोलिक विशिष्टता है और महान एल्प्स श्रृंखला को दर्शाता है। अरबी यात्री इब्न बतूता (1304-1368) के अनुसार इसका नाम हिंदुकुश इसलिए पड़ा क्योंकि इसको पार करते समय अनेक हिंदू गुलाम मारे गए थे। 'बखान गलियारा' हिंदुकुश पर्वत श्रृंखला का एक महत्वपूर्ण क्षेत्र है। इसका वर्णन वराहमिहिर के खगोलीय ग्रंथ 'बृहत् संहिता' और दिव्यावदान के बौद्ध ग्रंथ 'वोक्काण' में भी है।

अफगानिस्तान में निवास करने वाला सर्वाधिक प्रभावशाली समूह पख्तूनों का है। इनका उल्लेख ऋगवेद में चार जगह आता है। दस राजाओं के (दाशराज्ञ) के युद्ध में 'पख्त' अश्विनों का आश्रित और पुरु कबीले का एक सहयोगी था तुरवयाना को 'सिआवना' के विरोधी के रूप में माना है। हैरोडोटस ने इन्हें भारत के उत्तर-पश्चिम में स्थित (पख्तूस) के रूप में उल्लिखित किया है।

मोहमंद, महान पाणिनि के व्याकरण में उल्लिखित मधुमंत ही है। पाणिनि गंधार क्षेत्र में स्थित मधुमंत देश का उल्लेख करते हैं। महाभारत में उन्हें उत्तर-पश्चिम क्षेत्र में बसने वाले लोगों के रूप में वर्णित किया गया है। ये काबुल नदी के उत्तर में स्थित भूखंड पर बसे हैं और उनकी मातृभूमि 'दिर-बजोर' 1200 वर्ग मील में फैली है। इनके निकटतम पड़ोसी 'अफरीदी-तिराह' हैं जिनका उल्लेख पाणिनि 'अपरिता' के रूप में करते हैं। मोहमंद और अफरीदी शक्ति संपन्न कबीले थे। पतंजलि के ग्रंथ में इनकी जन्मभूमि 'दिर' और 'तिरह' 'द्विरावतीको देशः' तथा 'त्रिरावतीको देशः' के रूप में सुरक्षित है, जिसका अर्थ है दो नदियों के मध्य बसा हुआ और तीन नदियों के बीच बसा देश। पहला 'दिर' है जो कि कुनार और पंजकोरा नदियों के बीच बसा है। 'तिरह' तीन नदियों के बीच का देश है जो काबुल, बारा और इंडस (कुभा-वरा-सिंधु) हैं। 'वरा' नदी का नाम नदियों की उस सूची में है जो महाभारत के भीष्मपर्व में है और यह नदी पेशावर के बीच से बहती है। पाणिनि कापिशी अथवा बेग्रम की प्रसिद्ध मदिरा कापिशायन का उल्लेख करते हैं। कापिशी में श्रेष्ठ किशमिश का उत्पादन होता था जिसका निर्यात किया जाता था। तीसरी ईसवी पूर्व में बिंदुसार ने द्राक्ष की मदिरा मंगवाई थी। आज भी 'कपिशी' अंगूरों का गढ़ है। कौटिल्य भी लिखते हैं कि पाटलिपुत्र के शासकों के लिए मदिरा मंगवाई जाती थी। वह दो प्रकार की मदिरा की बात करता है एक 'कापिशायन' और दूसरी 'हारहूरक'। कापिशायन का उत्पादन अफगानिस्तान के उत्तर में होता था और 'हारहूरक' हरह्वैति घाटी के दक्षिण में काले अंगूरों से बनती थी जिसे आज भी 'हरहूरा' कहा जाता है।

पाणिनि ने अफगानिस्तान के अनेक कबीलों का उल्लेख किया है। पविंद कबीला 'पविंदायन' है, 'कर्शबन' कबीला युद्धप्रेमी 'कार्षपण' है, बुगती कबीला पाणिनि की काशिका टीका में उल्लिखित 'भगवित्ति' है और 'अफरीदी' कबीला (जो अपना नाम 'अपरीदी' उच्चारित करते हैं) भी 'आप्रीत' के रूप में उल्लिखित है। ये हेरोडोटस द्वारा वर्णित 'अपरिताई' के समतुल्य है। पाणिनि के व्याकरण पर लिखी अपनी महत्वपूर्ण टीका में पतंजलि ने 'नैष' जनपद का उल्लेख करता है जो कि अफगानिस्तान से पश्चिम दिशा में मौजूद आज का निशापुर है और अब ईरान की सीमाओं में है।

अफगानिस्तान के उत्तर-पूर्व में स्थित पामीर क्षेत्र का प्राचीन नाम कंबोज है। पालि साहित्य के अनुसार इसकी राजधानी द्वारिका थी। इसे आधुनिक 'दरवाज' के रूप में पहचाना जा सकता है। जब अफगानिस्तान भारत की सांस्कृतिक और राजनीतिक व्यवस्था का अंग था तब इसे भारत के वास्तविक द्वार के रूप में जाना जाता होगा। यह महत्वपूर्ण

मोहमंद, महान पाणिनि के व्याकरण में उल्लिखित मधुमंत ही है। पाणिनि गंधार क्षेत्र में स्थित मधुमंत देश का उल्लेख करते हैं। महाभारत में उन्हें उत्तर-पश्चिम क्षेत्र में बसने वाले लोगों के रूप में वर्णित किया गया है। ये काबुल नदी के उत्तर में स्थित भूखंड पर बसे हैं और उनकी मातृभूमि 'दिर-बजोर' 1200 वर्ग मील में फैली है

भौगोलिक परिकल्पना है।

महाभारत में भी अफगान कबीलों का उल्लेख है। धृतराष्ट्र की रानी गांधारी, इसी क्षेत्र से थी। 'लमगान' के लोगों को लंपाक (आधुनिक गोत्र लाम्बा) कहा गया है। महाभारत में घोर कबीले को घोरक और मार्कण्डेय पुराण में उन्हें 'घोरा' कहा गया। सभापर्व में 'पोर' कबीले का उल्लेख पौरक के रूप में किया गया है। कुंडुज क्षेत्र के लोगों को सभापर्व में 'कुंडमन' तथा 'कनवारी' कबीले को महाभारत में 'कर्ण-प्रवरण' कहा गया है और सभापर्व में आए 'हंसकायन' हुंजा लोग ही हैं।

उत्तर में अफगानिस्तान और तुर्किस्तान को ऑक्सस नदी अलग करती है। यह पुराणों और महाभारत में वर्णित 'वक्षु' नदी है। महाभारत में योद्धा कबीलों का वर्णन है जो बहादुर थे और अपने कबीला प्रमुखों के अधीन गुफाओं में रहते थे। कबीलों की शासन पद्धति जिसे पाणिनि ने ग्रामणीय कहा है, आज तक प्रचलित है।

सिकंदर की मृत्यु के पश्चात उसके उत्तराधिकारी निकोटर सेल्यूकस ने भारत के उत्तर पश्चिम में स्थित क्षेत्रों को अपने राज्य में मिलाना चाहा। उसे चंद्रगुप्त मौर्य, जिन्होंने अत्यंत दृढ़ नींव पर अपने एकीकृत राज्य की स्थापना की थी, का सामना करना पड़ा। दोनों के बीच हुई संधि के अनुसार चन्द्रगुप्त को अफगानिस्तान के परोपमिसदै, आरिया, अराकोस और बलोचिस्तान के 'गेडरोसिया' (बलूचिस्तान) पर 500 हाथियों और वैवाहिक संबंध स्थापित करने के बदले मिला। अशोक ने 'परोपमिसदै' पर अपना प्रभुत्व पूरी तरह बनाए रखा। 1957 में कंधार में खुदाई के दौरान, ग्रीक और अरमाइक लिपियों में लिखा एक अशोक स्तंभ प्राप्त हुआ है। ग्रीक पाठ, उसके साम्राज्य में बसे यूनानियों के लिए था और अरमाइक पाठ कंबोज अथवा ईरानियों के लिए था। अफगानिस्तान, मौर्य साम्राज्य के भीतर ही था।

कुषाण साम्राज्य पहली शताब्दी ईसवी में कुजुल कदफिस और फिर कनिष्क, जिसकी ग्रीष्मकालीन राजधानी अफगानिस्तान के सुर्ख कोटल में थी, के शासन में अपने चरमोत्कर्ष पर पहुंचा। उसने चौथी बौद्ध-परिषद बुलाई थी, जिसमें बौद्ध धर्म के प्रामाणिक सिद्धांत सूत्रों को स्वीकृति दी गई थी। सुप्रसिद्ध बौद्ध विद्वान अश्वघोष और वसुमित्र भी कनिष्क के आश्रय में रहते थे। कनिष्क का एक बैक्ट्रियन शिलालेख अफगानिस्तान के बागलान प्रांत में उस पर्वत पर मिला है जो काफिरों का किला कहलाता है तथा रबतक क्षेत्र में स्थित है। सर विलियम्स और क्रिब संकेत करते हैं कि लेख के हाशिए में अंकित शेर और कमल के चित्र भारतीय शैली के हैं। कुषाणों की ग्रीष्म ऋतु की राजधानी कापिशी (आधुनिक बेग्राम) थी। बेग्राम के फलकों पर दरवाजों के नीचे बनी यक्षिणियां प्रसिद्ध सांची के स्तूपों के द्वारों के नीचे बनी यक्षिणियों जैसी ही हैं। मोहक नारी आकृतियों का संबंध मथुरा कला शैली से है। बेग्राम के हाथी दांत के फलक जो मूलत: किसी लकड़ी के फर्नीचर का हिस्सा थे, सांची की यक्षिणियों और उससे पूर्व के भरहुत के परकोटो पर बनी आकृतियां जैसी हैं। काबुल से 40 मील की दूरी पर स्थित बेग्राम ह्वेनसांग के सुविख्यात यात्रा-वृतान्तों में वर्णित है। वे कहते हैं कि वहां महायान शाखा के 100 विहार थे जहां 6000 बौद्ध भिक्षु रहा करते थे। स्तूप बहुत ऊंचे थे और चारों ओर से शान से दमकते हुए देखे जा सकते थे। बेग्राम से प्राप्त एक चित्र में विदेशियों के समूह में अफगानिस्तान के कबीलों के लोगों को, विशिष्ट, चौड़े खुले पायजामों में देखा जा सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि वे आजकल के अफगानों जैसे ही हैं जो आस-पड़ोस में रहते हैं।

सुप्रसिद्ध बौद्ध विद्वान अश्वघोष और वसुमित्र भी कनिष्क के आश्रय में रहते थे। कनिष्क का एक बैक्ट्रियन शिलालेख अफगानिस्तान के बागलान प्रांत में उस पर्वत पर मिला है जो काफिरों का किला कहलाता है तथा रबतक क्षेत्र में स्थित है। सर विलियम्स और क्रिब संकेत करते हैं कि लेख के हाशिए में अंकित शेर और कमल के चित्र भारतीय शैली के हैं

बेग्राम के निकट ही पैतव और शोतोरक जैसे स्थान हैं, जहां कनिष्क द्वारा बंधक बनाए गए चीनी रहा करते थे। विहार की संरचना तक्षशिला मठ जैसी ही है। दीपंकर बुद्ध, मैत्रेय और उपासकों, और तीन काश्यप भ्राताओं द्वारा बुद्ध की उपासना के उत्कीर्ण चित्र कुषाण शासकों की धर्मनिष्ठता को दर्शाते हैं।

हड्ड और नगरहार के हजारों स्तूप फाह्यान और ह्वेनसांग जैसे कद के चीनी तीर्थयात्रियों को आराधना के लिए आमंत्रित करते प्रतीत होते हैं, जिनमें पवित्र अवशेष सुरक्षित थे। हड्ड सातवीं शताब्दी में अपने जादुई सुनहले शिखरों वाला संपन्न शहर था। यह इस्लाम के आक्रमणों के कारण विस्मृति की खाई में खो गया। आध्यात्मिक और भौतिक कौलाहल और पीड़ा ने बौद्ध भिक्षुओं और सरदारों के मस्तिष्क पर अपनी गहरे निशान छोड़े हैं। हांडा कुलनाम वस्तुत: किसी समय किसी समय के हड्ड (जिसका उच्चारण हांड = भांड अर्थात् भंडारगृह) से ही संबंधित है, जो लोग पूर्व की ओर विस्थापित कर गए। देवी की प्लास्टर पर बनी सुंदर मूर्ति जिसके हाथ में त्रिरत्न (बुद्ध, धर्म, संघ) है, बुद्ध का चेहरा, हाथों में भिक्षापात्र और दंड लिए एक युवा संन्यासी ये सब गहन धर्मनिष्ठा और शुद्धीकरण के प्रतीक हैं। तपा कलां के स्तूपों से विभिन्न प्रकार के हजार से अधिक पदार्थ मिले हैं।

बौद्धकाल में नगरहार एक बड़ा व्यापारिक और धार्मिक केंद्र था। इसके समृद्ध मठों का वर्णन ह्वेनसांग ने किया है। फ्रांसीसी खुदाइयों से कलाकृतियां और दैनिक प्रयोग की वस्तुएं आदि सामने आई हैं, और हमारे समय के संघर्षों ने बिलकुल आरंभिक दौर की पांडुलिपियों, जो दूसरी शताब्दी की हैं, तक को प्रकट किया है। यह क्षेत्र सुबुक तिगिन और उसके बेटे महमूद गजनी द्वारा जीते जाने से पूर्व हिंदूशाही साम्राज्य का हिस्सा था। 1570 में इस पर अकबर ने अधिकार जमाया ओर इसके इस्लामिक नाम अकबर के नाम जलालुदीन के आधार पर जलालाबाद रखा गया। 1964 में इसमें से लघमन और कुनार प्रांत अलग बना दिए गए और इसका नाम पुन: 'नंग्रहर' अथवा 'निंग्रहर' रखा गया।

हिंदुकुश की हिमाच्छादित चोटियों के नीचे शहद के छत्ते की तरह पत्थरों को काटकर बने विहार और बामियान में बुद्ध

मैत्रेय और रोचन की विशालकाय मूर्तियाँ पुरातन अफगानिस्तान का गौरव थीं। इन विशालकाय मूर्तियों का अद्भुत ऐश्वर्य वहां के शासकों और निवासियों द्वारा अर्जित पुनीत संप्रभुता, भव्यता, स्थिरता और समृद्धि को प्रदर्शित करती था, जो पड़ोसी देशों के साथ सांस्कृतिक तत्वों की साझेदारी भी बनाता था। दो विशालकाय मूर्तियां अक्षय आशीर्वाद बरसाती हुई सभी आक्रमणों से अभयदान भी देती थीं। ह्वेनसांग लिखता है, ''इसकी सुनहली आभा चारों ओर दमकती है और इसके बहुमूल्य आभूषण अपनी चमक से आंखों को चुंधिया देते हैं।'' 120 फुट ऊंचा चित्र वस्तुतः गंधार के मुहावरे 'विराट पुरुष' का महाकाय चित्रण है। एक विराट पुरूष के रूप में, जिसके नीचे के आले में रथ पर सवार सूर्य देवता का विशाल चित्र भी अंकित है। 'रोचन बुद्ध' की 175 फुट ऊंची प्रतिमा मथुरा शैली में बनी गुप्तकालीन बुद्ध मूर्ति का वर्धित स्वरूप है। भित्ति-चित्रों के टुकड़े जो कि आले के किनारों से चिपके हैं, अजंता के ही प्रतिरूप है। ह्वेनसांग ने इस जगह को बौद्ध धर्म का बड़ा केंद्र माना है जहां पर दस मठ और 1000 से अधिक बौद्ध भिक्षु रहते थे। यहां के निवासियों का बौद्ध धर्म से प्यार अद्भुत था। ये सब लोकोत्तरवादी थे। फ्रांसीसी पुराविदों ने यहां लगभग 2000 गुफाएं को खोजी हैं। अनेक गुफाओं में अति सुंदर चित्र बने हैं। संस्कृत में लिखित कुछ भुर्जपत्र भी एक गुफा में मिले हैं। वे तीसरी से आठवीं शताब्दी के बीच प्रचलित किसी भिन्न लिपि में लिखे गए हैं। ये अभिधर्म और विनय के अनेक ग्रंथों के अंशमात्र हैं। वहीं अपेक्षाकृत छोटी विशाल प्रतिमा के पास ही एक गुफा में स्याही से लिखे कुछ लघु आलेख भी हैं। इस विशालकाय मूर्ति के नीचे के आले में चित्रित एक राजा और रानी के शिरोवस्त्र पूरी तरह ससानियन (इरानी राजवंश) हैं। ह्वेनसांग ने 642 में बामियान की यात्रा की थी। कोरिया के तीर्थयात्री हिचो ने भी 728 में यहां के मठों को फलता-फूलता देखा था। बामियान के एक 'शेर' राजा (क्षत्रिय से) को 844 में यमन का गवर्नर नियुक्त किया गया था। 9वीं शताब्दी में भी वहां मूर्तियों से युक्त विशाल बौद्ध मंदिर था। 871 में इस मंदिर को सफरीद याकुब ने ध्वस्त किया ओर चित्र बगदाद ले गया। 17वीं शताब्दी में औरंगजेब ने अपनी तोपों से महान बुद्ध पर गोले बरसाए थे।

अवतंसक सूत्रों के 32वें ग्रंथ में, जो आजकल चीनी और तिब्बती भाषा में उपलब्ध हैं, तिब्बती अनुवाद में कहा गया है। अफगानिस्तान में एक जगह है जिसे 'करूणा धाम' कहा है जहां प्राचीन काल से ज्ञानदान करने वाले लोग रहते आए हैं।' (क्लीयरी का अनुवाद 2.219) अवतंसक का अंतिम सूत्र चीनी भाषा में अनुवाद आर्यस्थिर ने 388 से 407 में रम्यक सूत्र के रूप में किया था। 'रम्यक' 'लम्कान' या 'लमगान' का मूल संस्कृत शब्द है। रम्य का अर्थ ही है 'सुंदर' और यह आश्चर्य की बात नहीं कि बाबर यहां के पहाड़ों के वन वैभव की मुक्त कंठ से प्रशंसा करता है। बामियान में बनी दो विराट बुद्ध मूर्तियां हजार बुद्धों में से 7वें और हजारवें बुद्ध का प्रतिनिधित्व करती हैं अर्थात् मैत्रेय से लेकर रोचन तक। 'पेई-शी' फेन यांग' की ओर संकेत करता है जो पेलियट के अनुसार बामियान का ही रूपांतर है। यह भी संभव है कि युनकांग के विराट बुद्धों की प्रेरणा भी बामियान रहा हो। बामियान की विराट मूर्तियां चीन, कोरिया और जापान के राजवंशों के लिए प्रेरक रही हैं।

अफगानिस्तान के गृहयुद्ध के बाद से संस्कृत पांडुलिपियां वहां बर्बाद होने लगीं। ब्रिटिश लाइब्रेरी में उपलब्ध लिपटे हुए भुर्जपत्र अभिलेख हड्ड के निकट 5 मृद्भांडों में रखे हुए पाए गए थे। ये बौद्ध ग्रंथ हैं जो गांधारी प्राकृत में 29 पत्रों पर लिखे गए हैं। ये पहली शताब्दी ईसा पूर्व के हैं और बौद्ध पांडुलिपियों में सबसे प्राचीन हैं। संप्रदायों के नाम घड़ों पर अंकित हैं। ये जापान के ब्रॉडकास्टिंग कार्पोरेशन (एनएचके) पर टीवी समाचारों में दिखाए गए थे।

श्री मार्टिन शोयेन ने जो कि नार्वे के एक दूरस्थ पहाड़ी कस्बे स्पिकेस्टाड में रहते हैं, ने बौद्ध ग्रंथों के सारे पृष्ठों और अंशों को खरीद लिया। ये पांडुलिपियां दूसरी से आठवीं शताब्दी के बीच की हैं और दस हजार कागजों और टुकड़ों की है। ये सब ताड़ के पत्तों, भुर्जपत्रों और चर्मपत्र पर लिखे गए हैं, एक भी कागज पर नहीं लिखा गया है। इनमें से कुछ बामियान की गुफा से मिले हैं। पहली बार खरोष्ठी में लिखे 200 ताड़पत्रों के टुकड़े यहां मिले हैं। जापान, अमेरिका, इंगलैंड, नार्वे और जर्मनी के विद्वान इनका अध्ययन कर रहे हैं। श्री शोयेन ने खरोष्ठी लिपि में उत्कीर्ण किया गया एक मृद्भांड खरीदा जिसमें कुछ पांडुलिपियां चॉकलेट की तरह जले हुए रंग वाली थीं। बर्बरता ने अफगानिस्तान की महान संस्कृति को नष्ट किया है।

बामियान से तीन मील दूर दक्षिण पूर्व में ककरक स्थित है जिसमें गुफा-मंदिरों की श्रृंखला है जो कि चट्टानों को काटकर बनाई 40 फुट ऊंची विराट मूर्ति के चारों ओर बनी है। ककरक का एक श्रेष्ठ चित्र गोलाकार मंडल में बारह प्रकाशमान बुद्ध-चित्रों को वर्णित करता है।

घोरबंद घाटी के ऊपरी पहाड़ों पर फ्रांसीसी पुराविदों के मिशन ने फोंडुकिस्तान में एक मठ को खोज निकाला। हेपथेलाईट शासकों और इरान के खुसरू द्वितीय (590-628) ने जो सिक्के जारी किए थे उनसे इस मठ के निर्माण का समय सातवीं शताब्दी निर्धारित होता है। आंगनों के चारों ओर बने आले में मिट्टी के चित्र बने हैं जो आकर्षक रंगों की पृष्ठभूमि लिए हुए हैं। वास्तुकला और चित्रकला के उस जादुई संगम ने एक नई तकनीक की शुरूआत की थी जो कि संपूर्ण मध्य एशिया और चीन तक फैल गई। यह तुनहुवांग के हजार बौद्ध गुफाओं में भी है। फोंडुकिस्तान के भित्तिचित्रों में सासासियन और भारतीय शैली व्यक्त होती है। तारा और बोधिसत्व अजंता के भित्तिचित्रों में समानांतर

अफगानिस्तान के गृहयुद्ध के बाद से संस्कृत पांडुलिपियां वहां बर्बाद होने लगीं। ब्रिटिश लाइब्रेरी में उपलब्ध लिपटे हुए भुर्जपत्र अभिलेख हड्ड के निकट 5 मृद्भांडों में रखे हुए पाए गए थे। ये बौद्ध ग्रंथ हैं जो गांधारी प्राकृत में 29 पत्रों पर लिखे गए हैं। ये पहली शताब्दी ईसा पूर्व के हैं और बौद्ध पांडुलिपियों में सबसे प्राचीन हैं। संप्रदायों के नाम घड़ों पर अंकित हैं

चलते हैं। हाथों की उत्कृष्ट मुद्राएं, त्रिभंगी मुद्रा में लचकते शरीर तथा अंत:लोक में खोए से दिखते आकर्षक चेहरों का सौंदर्य, विभिन्न तरह के हार और मुकुट उनकी लौकिक और पारलौकिक शोभा और दीप्ति को बढ़ाते हैं। अफगानिस्तान में फोंडुकिस्तान बौद्ध कलाओं के सुकुमार पल्लवन का प्रतिनिधित्व करता है।

गंधार के शासक के यहां 520 ई. में आया चीनी राजदूत सुंगयुन हूण शासक मिहिर गुल के आक्रामक स्वभाव का वर्णन करता है। वह एक शक्तिशाली शासक था जिसने गंधार पर शासन किया और यशोवर्धन के एक शिलालेख से पता चलता है कि वह शैव था और स्थाणु, अथवा शिव की पूजा करता था।

अपने उत्कर्ष काल में काबुल अनेक बौद्ध मठों का केंद्र था। वह बाद के कुषाण शासकों की राजधानी भी सदियों तक रहा। सासासियन शिलालेखों में कुषाण शासकों को कबूलशाह कहा गया है। शेर दरवाजा पर्वत की ढलान पर, खंडहर हुए स्तूप से जो कि काबुल के दक्षिण में हैं, पलस्तर पर बारीक कारीगरी से युक्त सिर मिले हैं। तपा-इ-मरंजन पर्वत पर बना विहार और स्तूप काबुल की पूरी घाटी से देखा जा सकता है। इस स्तूप के भीतर अद्भुत सौंदर्ययुक्त छवियां अंकित मिली हैं और इसके इलावा 112 सेसानियन चांदी के सिक्के और 12 सोने के सिक्के मिले हैं। एक विराट बुद्ध मूर्ति का विशाल पैर बचा है। खुर्द काबुल के पर्वतों में एक मठ की दीवारें हैं और स्लेट पत्थर का बना प्रभावशाली स्तूप है। काबुल के आसपास अनेक स्तूप हैं जिनकी खोज होनिग्बर्गर और मेसोन ने 19वीं शताब्दी के प्रारंभ में की थी। काबुल से पंद्रह किलोमीटर दूर बुदखाक गांव, 'बुद्ध की भूमि' है। खुर्द काबुल पर्वत पर, मीनार-ए-चक्री अपनी 158 फुट की ऊंचाई के कारण क्षितिज पर उभरी दिखाई पड़ती है। एक अन्य मीनार-ए-सुर्ख अर्थात लाल मीनार तीर्थयात्रियों को पर्वत शिखर तक पहुंचाने का मार्ग दिखाती थी। ये दोनों स्तंभ अफगानिस्तान की वास्तुकला के अद्भुत नमूने हैं।

काबुल बौद्ध दर्शन और सूत्रों का बड़ा शैक्षिक केंद्र था। चीनी भाषा में बौद्ध ग्रंथों के अनुवाद के लिए चीन ने यहां से प्रकांड विद्वानों को निमंत्रित किया था। पहले महान विद्वान गौतम संघदेव थे जो कि 383 ई. में च्यांग-एन में पहुंचे थे और उन्होंने आगम और अभिधर्म का अनुवाद किया था। विमलाक्ष विनय के महान गुरु थे तथा कुमारजीव उनके शिष्यों में से एक थे। वह चीन में 406 में पहुंचे। सर्वास्तिवाद-विनय का उनका किया हुआ अनुवाद चीनी धर्मग्रंथों में आज भी उपलब्ध है। संघभूति ने 381-385 के बीच एक विभाषा और बुद्धचरित का अनुवाद किया। मात्र 9 वर्ष के अबोध बालक के रूप में कुमारजीव अपनी मां राजकुमारी जीवा के साथ काबुल आया जो कि कच्छ के राजा की पुत्री थीं और भिक्षुणी बन गई थीं तथा काबुल के राजा के चचेरे भाई बंधुदत्त की शिष्या बन कर आई थीं। उन्होंने विमलाक्ष से 'विनय' की शिक्षा काबुल में प्राप्त की। कुमारजीव ने संस्कृत के पचास ग्रंथों का अनुवाद चीनी भाषा में किया। ये चीनी शिल्प और चिंतन के श्रेष्ठ परिचायक हैं। उसका 'कमलसूत्र' और सद्धर्म पुंडरीक का संस्कृत में अनुवाद आज जापान में सर्वाधिक आदृत धर्मग्रंथ है। सर्वाधिक शक्तिशाली सामाजिक और राजनीतिक संगठन 'सोका-गाक्की' का यह सदा साथ रखा जाने वाला धर्म ग्रंथ है। काबुल से पुण्यतारा 399 ई. में चीन पहुंचे तथा उन्होंने कुमारजीव के साथ मिलकर सर्वास्तिवाद-विनय का अनुवाद 404 ई. किया। 403-413 ई. के बीच काबुल के बुद्धयशस ने संस्कृत ग्रंथों को चीनी भाषा में अनूदित किया जिसमें धर्मगुप्त संप्रदाय की 'विनय' भी थीं। धर्मयशस ने 407-415 ई. के बीच चीन में रहकर बोद्ध ग्रंथों का अनुवाद किया। 423 ई. में बुद्धजीव चीन गए और अन्य ग्रंथों के साथ-साथ महीशासक नामक विनय का अनुवाद भी किया। धर्ममित्र काबुल के एक भिक्षु थे जो कि 424 ई. में चीन आए और 441 ई. तक वहां धारणी, आकाशगर्भा चिंतन तथा अन्य कृतियों का अनुवाद किया। चीनी भिक्षु शी-ची-येन जो कि लियांग चियो के निवासी थे, संस्कृत ग्रंथों के लिए काबुल आए। वह फाह्यान की भारतयात्रा में उनके साथी थे। उन्होंने 14 ग्रंथों का अनुवाद किया और पुन: काबुल लौट आए जहां 78 वर्ष की आयु में उनका देहांत हुआ। काबुल के राजा का छोटे बेटे गुणवर्धन 431 ई. में नानकिंग पहुंचे और उन्होंने दस धर्मग्रंथों का अनुवाद किया। काबुल के बुद्धत्राता ने सातवीं शताब्दी के प्रारंभ में एक सूत्र का अनुवाद किया था। काबुल के बुद्धपाल 676 ई. में चीन आए और उन्होंने उष्णीषविजया-धारणी का अनुवाद किया जिसका प्रयोग शाही धार्मिक रीतियों में किया जाता है। काबुल के प्रज्ञा ने 785 से 810 ई. के बीच चार ग्रंथों का अनुवाद किया जिसमें 'गंडव्यूह' भी था। उसकी संस्कृत पाण्डुलिपि दक्षिणी भारत में उड के शासक द्वारा 795 में चीनी सम्राट को भेजी गई थी।

द्वादश प्रकाशमान बुद्ध के संप्रदाय का पता ज्ञानगुप्त द्वारा अनूदित 'द्वादश बुद्धिका सूत्र' से चलता है जिसका अनुवाद उन्होंने 587 में किया था। वह गंधार के एक क्षत्रिय थे। च्यांग-आन 560 ई. में आए ओर लोयांग 581 ई. में पहुंचे थे। उन्होंने 36 ग्रंथों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। ककरक के अनेक मठों में से एक के गुंबद में प्राप्त मिट्टी पर की उत्कृष्ट चित्रकारी बारह 'प्रकाशमान बुद्धों' को दर्शाती है। इसके लाल, भूरे गेरूए और नीले रंग नेपाली और तिब्बती शैलियों के पूर्ववर्ती हैं। चौथी से सातवीं शताब्दी तक काबुल ने बौद्ध ग्रंथों को पूर्वी एशिया तक पहुंचाने का कार्य किया। काबुल के अनेक अन्य विद्वान भी रहे होंगे जिनके कार्यों का ब्यौरा हमें उपलब्ध नहीं है।

850 में कल्लर ने हिंदूशाही राजवंश का शासन स्थापित किया। उन्होंने 166 वर्ष तक अफगानिस्तान के विभिन्न भागों पर शासन किया (850-1026) महमूद गजनवी ने 1001

काबुल बौद्ध दर्शन और सूत्रों का बड़ा शैक्षिक केंद्र था। चीनी भाषा में बौद्ध ग्रंथों के अनुवाद के लिए चीन ने यहां से प्रकांड विद्वानों को निमंत्रित किया था। पहले महान विद्वान गौतम संघदेव थे जो कि 383 ई. में च्यांग-एन में पहुंचे थे और उन्होंने आगम और अभिधर्म का अनुवाद किया था। विमलाक्ष विनय के महान गुरु थे तथा कुमारजीव उनके शिष्यों में से एक थे। वह चीन में 406 में पहुंचे

में जयपाल को पराजित किया और उसे बंदी बना लिया। 1022 ई. में राजा त्रिलोचन पाल की हत्या कर दी गई। अंतिम शासक भीम ने 1022 से 1026 ई. तक शासन किया। टगाओ और गारडेक्स से संगमरमर के बुत मिले हैं जो किसी शैव मंदिर में स्थापित मूर्तियां रही होंगी, जबकि अफगानिस्तान के बड़े भाग पर हिंदूशाही शासकों का शासन था। दुर्गा द्वारा महिषासुर का वध करते हुए एक उभरा हुआ नक्काशीदार चित्र भी मिला और ऐसा ही एक चित्र रोम के राष्ट्रीय ओरिएंटल म्यूजियम में उपलब्ध है। रथारूढ़ सूर्य का एक चित्र अपने दो सेवकों दंड और पिंगल के साथ मिला है जो ससासियन वेशभूषा में हैं। यह कोटल खैर खानेह में मिला था जो कि काबुल और कापिशी घाटी को अलगाने वाले दर्रे में स्थित एक छोटा सा टीला है। यह 241 ई. में सेसासियन विजय के पश्चात् का हो सकता है और शाही देवालय की पूज्य प्रतिमा हो सकती है। अफगान लोग आज भी इस पर्वत पर बसंत के मौसम का प्रारंभ बसंत पंचमी उत्सव के रूप में मनाते हैं।

काबुल के अजायब घरों में अफगानिस्तान के इतिहास की हजारों वर्ष की खंडित सौंदर्य प्रतिमाएं सुशोभित हैं। हजारों वर्ष से भारत अफगानिस्तान का दक्षिणी पड़ोसी रहा है। इसके पर्वत और मैदान विस्मयकारी भव्यता को प्रदर्शित करते हैं और इसके खंडहरों से भरा परिदृश्य मौन निर्जनता को दर्शाता है। मठों और स्तूपों के कंकाल आकाश में गड़े प्रतीत होते हैं जैसी कि काबुल के ऊपर की चकरी पर्वत की मीनार। ये महान अफगान मस्तिष्कों द्वारा प्रवर्तित धर्मचक्रों की खो गई भव्यता और महानता के प्रतीक हैं। बौद्ध स्तंभों के मूलाधार विनष्ट उदात्तता की तरह खड़े हैं। ऋग्वेद की ऋचाओं से लेकर महाभारत, पाणिनि के सूत्रों, पुराणों, खगोलशास्त्र और संगीत के ग्रंथों तक में अफगानिस्तान की नदियों और कबीलों का गायन हुआ है। कुषाण सम्राटों ने इसे बौद्ध धर्म की विस्मयकारी उदात्तता से संपन्न किया जिनका सुर्ख कोतल का शाही देवालय एशिया को बुद्ध क्षेत्र बनाने में उनके योगदान का मौन साक्षी है।

नंग्रहर का उत्तरी हिस्सा (प्राचीन नगरहर जिसमें विशाल भिक्षु विहार थे) पूर्वी अफगानिस्तान में था और काफिरिस्तान कहलाता था। 'काफिरिस्तान' का अर्थ है

नंग्रहर का उत्तरी हिस्सा पूर्वी अफगानिस्तान में था और काफिरिस्तान कहलाता था। 'काफिरिस्तान' का अर्थ है 'अधर्मियों की भूमि' यह अफगानिस्तानी शासन के अधीन 1893 में सर ड्यूरंड और अफगानिस्तान के बीच हुई संधि से आया। तब तक यह राजनीतिक दृष्टि से स्वतंत्र और अलग-थलग था। इसे ब्रिटिश भारतीय साम्राज्य से बाहर रखा गया

'अधर्मियों की भूमि' यह अफगानिस्तानी शासन के अधीन 1893 में सर ड्यूरंड और अफगानिस्तान के बीच हुई संधि से आया। तब तक यह राजनीतिक दृष्टि से स्वतंत्र और अलग-थलग था। इसे ब्रिटिश भारतीय साम्राज्य से बाहर रखा गया। अमीर ने 1895-96 में इस पर एक आक्रमण किया था। यहां के लोगों का जबरदस्ती धर्म परिवर्तन करवाया गया और इसे नया नाम नूरिस्तान दिया गया। अर्थात् 'ज्ञान का क्षेत्र' वर्तमान में यह लघमान और कुनार प्रांतों के मध्य है। यहां के लोग बहुत पुरानी काफिर या दार्दी भाषाएं बोलते हैं। अत्यधिक अलग-थलग रहने के कारण 1996 तक प्राचीन परंपराएं चलती थीं। गजनवी का इतिहासकार बेहाकी काटोर/कटवार को काफिर प्रांत के रूप में वर्णित करता है। गजनी के महमूद ने 1020-21 में सिंह पूजक नूर और किरात घाटी के काफिरों पर आक्रमण किया था जो कि दक्षिण-पूर्वी काफिरिस्तान कहलाता था। सिंह पूजा का संकेत महिषासुर मर्दिनी की ओर हो सकता है। 1398 में तैमूर ने पश्चिमी काफिरिस्तान पर हमला किया ताकि काफिरिस्तान के काटोरो और स्याहपोशों को सबक सिखा सकें जो कि अंदराब के मुसलमानों से लड़ रहे थे। उसके सैनिकों पर घात लगाकर हमला किया गया और उसे पीछे हटना पड़ा। बाबर काफिरिस्तान का वर्णन करते हुए यहां के फलों और काफिरों द्वारा तैयार की गई श्रेष्ठ मदिरा पर जोर देता है। 1582 में अकबर ने भी कटवार अधर्मियों (काफिरों) के विरूद्ध जलालाबाद से सेनाएं भेजी थीं। काजी मुहम्मद जो उसकी सेनाओं के साथ उसके सैनिकों का शिक्षक था, इस सैन्य अभियान का वर्णन सोलह बीर आख्यानों में करता है। इस अभियान का नेतृत्व मुहम्मद हाकिम ने किया था जो कि अकबर का छोटा भाई था जो कि नक्सबंदी सूफी संप्रदाय का कट्टर समर्थक था। मुस्लिम सेनाएं काफिरों का पराजित न कर सकीं परंतु कुछ गढ़ बनाने में सफल हुए। 19वीं शताब्दी तक इस विषय पर पूरी चुप्पी दिखाई पड़ती है। इसी समय अंग्रेजों ने ब्रिटिश भारत और अफगानिस्तान के बीच एक स्वतंत्र मध्यवर्ती क्षेत्र (बफर जोन) के रूप में काफिरिस्तान की ओर देखना शुरू किया। 1878 में चित्रल में कर्नल बिडल्फ से मिलने काफिरों का एक प्रतिनिधिमंडल आया। वह दक्षिणी चित्रल के लोगों को कुछ दशक पहले तक काफिर मानता है और बशगली (अर्थात कति) भाषा के नमूने देता है। दोनों नाम वैदिक काल से संबद्ध हैं। बाष्कल वस्तुतः ऋग्वेद का एक खोया हुआ पाठ है और कति एक वैदिक ऋषि हैं, जिनके वंशज कात्यायन कहलाए।

कात्यायन स्रौत सूत्र हम तक पहुंचा है। काजी मुहम्मद सालिम का 'सिफतनामा' तीन देवताओं का नाम देता है जिनकी पूजा कर काफिर मुसलमानों के विरूद्ध सहायता मांगते थे। समाज में उनका स्थिति का आकलन भोज देने की क्षमता, युद्ध कौशल तथा युद्ध में मुसलमानों को मारने की शक्ति के आधार पर होता था (सी.ई. बोसवर्थ)।

काफिर भाषाओं ने अपनी ध्वन्यात्मक विशेषताएं अर्जित कर ली हैं। वे वैदिक संस्कृत में पाए जाने वाले शब्दों का ज्यों का त्यों प्रयोग करते हैं। यद्यपि चग सराय के निकट 7वीं से 9वीं शताब्दी के बीच निर्मित एक हिंदू मंदिर के खंडहरों को छोड़कर और कोई पुरातात्विक साक्ष्य नहीं मिलता। जेटमर ने 1500 शिलालेखों और 10000 नक्काशियों की एक शृंखला खोज निकाली है जो हजारों वर्ष पीछे तक जाती हैं और उत्तर मुस्लिम काल में आकर धीरे-धीरे विलुप्त होने लगी। काफिर देवताओं के सांध्यकाल का वर्णन अति सुंदर ढंग से बुदरस द्वारा लोककथाओं और गीतों की टीकाओं में वर्णित किया गया है। कति निवासी जबरन धर्म परिवर्तन के

भय ये ब्रिटेन शासित क्षेत्र की शरण में ले गए। नार्वे के प्रो0 मोर्गेंस्टीर्न को 1929 में यह सामग्री सस्वर पाठ करने वाले एक पुजारी से मिली जिसके पास पारंपरिक ज्ञान का बड़ा भंडार था और वह उन बीस कतियों में से एक था जिन्होंने अपने को काफिर घोषित किया था। प्रो. बुदरस, जो कि 1955-56 में जर्मनी से चले हिंदुकुश अभियान के सदस्य थे, ने वहां के कुछ बुजुर्गों से आश्चर्यजनक संख्या में पौराणिक ग्रंथों का संग्रह किया था जिन्हें अभी भी यह आशा थी कि पुराने दिन लौट आएंगे और उनके देवता लौटेंगे। प्रसून के एक गांव का नाम 'दियोग्रोम' है (संस्कृत का देवग्राम)। मोन, मोनी, मंदी, मंदे, महादेव ही हैं। कतियों की स्तुतियों में मोन के अनेक मंदिरों का उल्लेख है। घाटी के दोनों ओर के दो ग्लेशियर उनके पदचिन्ह हैं। वहाँ से बहने वाले जल पर उनका राज है जो कि उनकी जटाओं से निकली गंगा के समान है। एस्पेरेंग्रा, जो इस कहानी में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है, ईश्वरक है। वराहमिहर अपनी वृहत् संहिता में (6ठीं शती) लिखते हैं कि केतु और उत्तर-पश्चिम सीमा प्रांत के लोगों - अर्थात् पहलवी (पार्थियन) श्वेत हूण, अवगाण (अफगान) और चीन - के बीच विशेष संबंध था। पहली बार किसी ग्रंथ में अफगान का जिक्र हुआ है।

इंद्र की पूजा प्रमुख रूप से वैगल और प्रसुम में होती थी। इंद्र-धनुष के लिए (इंद्रो) और भूकंप के लिए (इंद्रिस्ट) शब्द का सीधा संबंध इंद्र से है। एक किस्से में कहा गया है कि बादल तभी गरजते हैं जब इंद्र पोलो खेलता है। कति क्षेत्र में इंद्र-ज्युल जैसे स्थान हैं। वह मदिरा में सक्रिय है : यह सोम पेय से उत्पन्न है जो कि धार्मिक कर्मकांडों के लिए पी जाती है। ब्रुमोतुल में बसे कति लोगों ने प्रो. मोर्गेंस्टीर्न को बताया था कि इंद्र एक युद्ध में गिश से हार गए थे और उन्हें भेंट में गिश को मदिरा देनी पड़ी थी। गिश की पूजा कति लोग करते हैं। उन्हें प्रसून में गिविश पुकारा जाता है। कति लोग किसी युद्ध अभियान से पूर्व उनकी पूजा करते हैं। इसका ऋग्वैदिक नाम गविष है (गविष्टि 'युद्ध' ऋग्वेद)। उन्हें समर्पित ऋचाएं लेखबद्ध की गई है। गिश ने देवी संजु के पिता सनु की हत्या की थी और उसके कटे सिर से पोलो खेली थी। सनु ने काफिरों को इस्लाम में दीक्षित करने का प्रयास किया था। गिश के संजु के साथ अंतरंग संबंध थे। युद्ध अभियानों से पूर्व उनकी पूजा में स्त्रियां शामिल होती थीं। वे दिसनि से प्रार्थना करती थीं ताकि उनके पति और बेटे बड़ी लूट के साथ सकुशल वापस लौट आएं। दिसनि (प्रसुन : दिस्नि), ऋग्वैदिक देवी 'धिषणा' ही है। ग्रीक भाषा में देवता के लिए 'थियोस' शब्द की व्युत्पत्ति 'थिसोस' से हुई है। जिसका मूल 'धिष्ण्या:' (अर्थात पवित्र, समर्पित) (ऋगवेद) है। बाश्गल क्षेत्र के हर गांव में गिश देवता का कम से कम एक देवालय अवश्य था। दिसनि को कभी-कभी सर्वोच्च देवता के रूप में भी वर्णित किया जाता है। वह समाज व्यवस्था की देवी भी हैं और उन्होंने एक सनहला किला बनाया था जिसके चार कोने और सात दरवाजे थे। इसका मानचित्र ऐसा है जिसमें मध्य से चारों ओर मार्ग निकलते हैं।

एक भजन में उनकी प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि 'वह मंदिर की रक्षक और मनुष्य मात्र को दूध प्रदान करती हैं'। गर्भधारण और संतान के जन्म के लिए उत्तरदायी निर्मली देवी को माना जाता है, (संस्कृत-निर्मलिका)। दिसनि के पुत्र बगिश्त हैं जो कि जल के देवता हैं, पशुधन के रक्षक हैं और लोगों को धन-सम्पदा और बल प्रदान करने वाले हैं। वह 'भगिष्ठ' अर्थात सर्वाधिक संपन्न हैं। ऋतुओं के राजा के रूप में सुद्रेम या सुजम वर्षा के लिए उत्तरदायी हैं। वह नदियों और झीलों में रहते हैं तथा पवित्र झील 'सुद्रेम सर' का नाम उन्हीं के नाम पर पड़ा है। संस्कृत में वह 'सुधर्मा' हैं। पौरोहित्य पदानुकम में सबसे ऊपर 'उत' या 'उर्त' आते हैं जो उच्च पुजारी थे और पर्याप्त राज्य सत्ता उनके पास रहती थी। वह वैदिक परंपरा में 'होतृक' थे। ब्रुमोतुल और कुनिश्त के गांवों में त्रिदिवसीय 'इश्त्रि-चल-नुत' (साथ पलायन करने वाली नारी का नृत्य) होता था। कैलेंडर बनाने की दृष्टि से सौर प्रेक्षण, विशेष रूप से बनाए गए एक सूर्य मंदिर में चलता रहता था ताकि वर्ष के एक विशेष दिन, मंदिर की दीवार में बने एक छेद से, सूर्य की किरणें देव प्रतिमा को आलोकित कर दें। सूर्य गति निरीक्षण का अफगान वैज्ञानिकों का यह ज्ञान मंदिरों के विध्वंस के साथ ही समाप्त हो गया। अश्कुन लोग 'ब्लम-दे'(ब्रह्मदेव) की पूजा करते थे। काफिर सर्वदेव देवालयों के मूलभूत अंग, प्रारंभिक भारतीय देवताओं की याद दिलाते हैं। हाईन गेल्डर्न (1957:281) "आज हम जानते हैं कि काफिर प्रारंभिक वैदिक आर्यों की ही शाखा है।' 'लकड़ी की मूर्ति' के लिए प्रयुक्त वैगाली शब्द 'कशउ' संस्कृत में ऋषि काश्यप का नाम है।

1940 से 1950 के बीच अफगान लोग अपने आर्य होने पर गर्व करते थे, अपने देश को आर्याना कहते थे तथा उनकी भाषा आर्यन थी। उन्होंने जान लिया था कि जिस तरह यूरोपीय भाषाओं का आधार ग्रीक और लैटिन हैं, वैसे ही पश्तो और फारसी की मातृभाषा संस्कृत है

1940 से 1950 के बीच अफगान लोग अपने आर्य होने पर गर्व करते थे, अपने देश को आर्याना कहते थे तथा उनकी भाषा आर्यन थी। उन्होंने जान लिया था कि जिस तरह यूरोपीय भाषाओं का आधार ग्रीक और लैटिन हैं, वैसे ही पश्तो और फारसी की मातृभाषा संस्कृत है। अपनी जड़ों को जानने के लिए लोगों को संस्कृत सीखनी चाहिए। काबुल विश्वविद्यालय में संस्कृत चार वर्ष और अवेस्ता दो वर्ष के लिए पढ़ाई जाती थी। संस्कृत को सप्ताह में तीन घंटे दिए जाते थे। युवा अफगानी गीता और कुरान के तुलनात्मक अध्ययन में रूचि लेते थे। काबुल विश्वविद्यालय के छात्र मासिक पत्रिका 'आर्यना' का प्रकाशन किया करते थे।

समय के थपेड़ों से झुलसाकर मटियामेट कर दी गई अफगानिस्तान की भूमि का दुर्भाग्य खत्म होने का नाम नहीं ले रहा है। यह अपनी ऐतिहासिक भूमिका को अपने खंडहरों और पवित्र धर्मस्थलों के कंकालों से अपनी विरासत को पुन: संजोकर अपनी चेतना में समेटकर ही सिद्ध कर सकती है। सुनहली चोटियों को पुन: प्राप्त करना होगा। ■

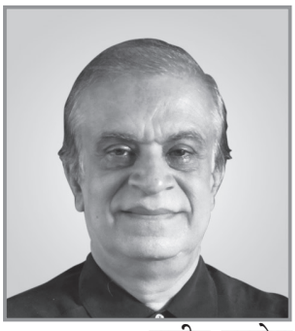

राजीव मल्होत्रा

गंधार कैसे बन गया कंधार?

हमारे प्राचीन ग्रंथों में गंधार क्षेत्र का व्यापक उल्लेख मिलता है। रामायण से लेकर महाभारत तक और अन्य कालजयी कृतियों में भी भारत की भूमि, धर्म और संस्कृति के साथ इस क्षेत्र की एकात्मता का उल्लेख मिलता है। यद्यपि आज यह राजनीतिक दृष्टि से भारत का अंग नहीं है, परंतु भारत के साथ इसकी सांस्कृतिक संबद्धता को आज भी सहज ही समझा जा सकता है। इस क्षेत्र के एक नगर को आज कंधार नाम से जाना जाता है। इसका नाम कंधार क्यों और कैसे पड़ा, इस ऐतिहासिक यात्रा पर एक दृष्टि

अफगानिस्तान का प्राचीन इतिहास उस काल से आरंभ होता है जब यह प्राचीन भारत का एक महत्वपूर्ण क्षेत्र था और 'गंधार' नाम से जाना जाता था। आज इस क्षेत्र के जिस नगर का नाम संसार में सबसे अधिक लिया जाता है उसका नाम है 'कंधार' जो तालिबान से जुड़ा होने के कारण कुख्यात है। पहले इस नगर को 'क्वंधार' कहते थे जो कि गंधार का ही अपभ्रंश था। आज तो यह अल-कायदा का गढ़ है, पर इसका सामरिक महत्व हमेशा से ही रहा है क्योंकि यह फारस से मध्य एशिया और भारत तक आने वाले प्रमुख रास्तों पर स्थित था। इसलिए अनेक आक्रमणों का इतिहास इसके साथ जुड़ा हुआ है। 329 ई.पू. में सिकंदर ने इस पर अधिकार कर लिया और 305 ई.पू. में यूनानियों ने इसे चन्द्रगुप्त को सौंप दिया। इस नगर का गौरव महाराजा अशोक के शिलालेख के कारण भी है। 7वीं शती ईस्वी में यह अरब शासन के अंतर्गत आया और 10वीं शती में इसे गजनवियों ने ले लिया। चंगेज खान ने कंदहार को तबाह कर दिया और उसके बाद तुर्क आक्रांता तैमूर ने इसे कहीं का नहीं छोड़ा जिसके बाद यह मुगलों के हाथ में आ गया। मुगल शासक बाबर ने एक पहाड़ी पर ठोस चूना पत्थर से तराशकर चालीस विशाल सीढ़ियां बनवाई जो उन शिलालेखों तक जाती थीं जिन पर उसने अपनी विजययात्राओं के विवरण खुदवा रखे थे। 1747 में कंधार एकीकृत अफगानिस्तान की पहली राजधानी बना। वेदों, रामायण और महाभारत में तो इसके प्राचीनतम उल्लेख मिलते ही हैं, परंतु यह भारत और फारस के बीच अंतर्व्यवहार का केंद्र तो रहा ही साथ ही विश्वव्यापार और संस्कृति के गढ़ के रूप में भी जाना जाता रहा। सदियों तक यह बौद्ध विचार और मनीषा का केंद्र रहा। तालिबान ने जो विशाल बुद्ध प्रतिमाएं तोड़ी थीं, वे बामियान में थीं जो एक महत्वपूर्ण प्राचीन बौद्ध नगर था। यहां हजारों प्रतिमाएं और स्तूप थे।

प्राचीन गंधार

वेदों में गंधर्वों को दिव्य पुरुष माना गया है। बाद में उन्हें एक जाति के रूप में मान्यता दी गई और फिर नाट्यशास्त्र में उनके संगीत को गंधर्व संगीत कहा गया। गुप्त[1] के अनुसार, "संहिताओं और बाद के साहित्य में जिन्हें गंधर्व कहा जाता है उनका नामकरण एक विशिष्ट भौगोलिक क्षेत्र गंधार के आधार पर किया गया है...पूरी संभावना है कि वे अफगानिस्तान के थे, (जहां कंधार नाम का एक नगर अभी भी है)...संभवत: उसी समय उन्होंने संगीत की कला को ऊंचाइयों पर पहुंचाया। उस समय प्रायद्वीप का यह क्षेत्र पूर्वी और बाहरी संगीत की परंपराओं का महान संगम बन चुका था। अत: यह संगीत ही गंधर्व कहलाया और शेष भारत में भी इसे इसी नाम से पुकारा जाने लगा। सदियों तक यही नाम चलता रहा। वायुपुराण में भारतवर्ष के नौ विभागों में से एक को गंधर्व कहा जाता था।" महाभारत काल में भी गंधार का क्षेत्र सांस्कृतिक और राजनीतिक दृष्टि से भारत का अंग था।

गांधारी के भाई राजा शकुनि ने महाभारत के प्रसिद्ध युद्ध में पांडवों के विरुद्ध कौरवों का पक्ष लिया था। यह युद्ध भारत के केन्द्र में कुरुक्षेत्र नामक स्थल पर लड़ा गया था। गांधारी का विवाह धृतराष्ट्र के साथ हुआ था। गंधार और हस्तिनापुर के बीच संबंध प्रगाढ़ था और अनेक स्तरों पर आदान-प्रदान होता था।

इस क्षेत्र में मेहरगढ़ नाम का एक कस्बा है जिसका संबंध सिंधु घाटी की सभ्यता से रहा है और यह पुरातात्त्विक उत्खनन में प्राप्त संसार के प्राचीनतम स्थानों (8000ई.पू.) में गिना जाता है। भारत, मध्य एशिया और मध्य पूर्व के बीच गंधार एक व्यापारिक और सांस्कृतिक संधि-स्थल था। उस काल के बौद्ध प्रलेखों में गंधार (जिसके

अंतर्गत पेशावर, स्वात और काबुल की घाटियां आती थीं) उत्तर भारत के सोलह प्रमुख नगरों में गिना जाता था। 5वीं शताब्दी ई.पू. में यह फारस के राजा दारयोश (दारा या डेरियस) प्रथम के साम्राज्य का एक प्रांत था। चौथी शताब्दी ई.पू. में सिकंदर ने इस पर अधिकार कर लिया। पंजाब में उसे नंदों की विशाल सेना का सामना करना पड़ा जिसके कारण उसकी सेना में विद्रोह फैल गया और उसे भारत छोड़कर जाना पड़ा।

इसके बाद गंधार पर भारत के मौर्य वंश का शासन रहा और सम्राट अशोक (तीसरी शती ई.पू.) के शासनकाल में बौद्ध धर्म यूरेशिया के आर-पार विस्तारित होने वाला संसार का पहला धर्म बना जिसने प्रारंभिक ईसाइयत और पूर्वी एशिया की सभ्यताओं को प्रभावित किया। भारतीय-तिब्बती बौद्धमत के आध्यात्मिक और बौद्धिक संस्थापक पद्मसंभव गंधार के थे। यूनानी इतिहासकार प्लिनी लिखते हैं कि मौर्यों के पास विशाल सेना थी परंतु अन्य भारतीय साम्राज्यों की भांति उन्होंने समुद्र पार के देशों पर आक्रमण करने का कोई प्रयत्न नहीं किया।

गंधार और सिंध प्राचीन काल से भारत के अंगों के रूप में जाने जाते थे। इतिहासकार आंद्रे विंक के अनुसार प्राचीन काल से ही मकरान और सिंध भारत के अंतर्गत माने जाते थे। वह कहते हैं:

"इसका विस्तार निश्चित रूप से वर्तमान सिंध और मकरान के परे जाता था, जिसके अंतर्गत समूचा बलूचिस्तान आता ही था, पंजाब का एक हिस्सा और उत्तर पश्चिमी सीमांत प्रांत भी इसके अंतर्गत आते थे।"[2]

"अरब भूगोलवेत्ता सामान्यत: अल-हिंद[3] के राजा की बात करते हैं।"

"सिंध फारसी होने की बजाय प्रमुखत: एक भारतीय स्थान था और लंबी कालावधियों तक एक ऐसी भारतीय राजव्यवस्था का अंग था जिसके सामने फारसी प्रभुत्व कहीं ठहरता ही न था। मौर्य साम्राज्य को चन्द्रगुप्त ने सिंधुघाटी तक विस्तारित किया और इस तरह से एक गौरवशाली बौद्ध नागरिक सभ्यता की नींव डाली। इस क्षेत्र में अनेक बौद्ध विहारों का निर्माण किया गया और यह विशेषकर सम्राट अशोक के शासनकाल में बौद्ध मनीषा का महत्वपूर्ण केंद्र बन गया। प्रथम शती ईस्वी के अंत तक आते आते सिंधुघाटी में कुषाणों के शासनकाल में अंतरराष्ट्रीय कारोबार और शहरीकरण अभूतपूर्व स्तर पर पहुंच चुका था। पुरुषपुर (पेशावर) इस विस्तृत साम्राज्य की राजधानी बन गया और गंधार बौद्धधर्म का दूसरा गढ़ बन गया। कला की दृष्टि से भी गंधार ने गंधार बौद्ध कला के रूप में अपना योगदान दिया। कहते हैं कि पुरुषपुर में कनिष्क ने चतुर्थ बौद्ध संगीति का आयोजन करवाया था और कनिष्क विहार का निर्माण भी करवाया था जो सदियों तक बौद्ध तीर्थ के रूप में प्रतिष्ठित रहा और मध्य एशिया और चीन तक धर्म के प्रसार का केंद्र बना रहा। सिंध में हिंदू धर्म के साथ-साथ बौद्ध धर्म दसवीं शताब्दी तक बना रहा।"[4]

मौर्य साम्राज्य को चन्द्रगुप्त ने सिंधुघाटी तक विस्तारित किया और इस तरह से एक गौरवशाली बौद्ध नागरिक सभ्यता की नींव डाली। इस क्षेत्र में अनेक बौद्ध विहारों का निर्माण किया गया और यह विशेषकर सम्राट अशोक के शासनकाल में बौद्ध मनीषा का महत्वपूर्ण केंद्र बन गया

"ह्वेन सांग बामियान की गुफाओं में रहने वाले एक हजार बौद्ध भिक्षुओं, और 53.5 मीटर ऊंचौ स्वर्णजडित विशाल वौद्ध प्रतिमाओं को देखकर बहुत ही प्नभावित हुआ था। इस क्षेत्र में देवी संप्रदायों की उपस्थिति के प्रमाण भी मिलते हैं।"[5]

शैवधर्म भी इस क्षेत्र का एक महत्वपूर्ण प्राचीन धर्म था जिसका प्रभाव व्यापक था। विंक लिखते हैं, "कंधार इस राज्य का एक धार्मिक केंद्र था जहां एक पहाड़ी की चोटी पर शैव देवता जुन की पूजा की जाती थी।"[6]

"जुन या जुहुन देवता का यह तीर्थ इस्लाम के आगमन से पहले, एक पवित्र पहाड़ी पर जमीनदावर में स्थित था और नौवीं शताब्दी के अंत तक वर्तमान था। यह क्षेत्र जुन देवता को समर्पित एक प्रसिद्ध तीर्थस्थल था। चीन में इस देवता के मंदिर को सू-ना कहते थे। जुन देवता की पूजा का संबंध मुल्तान के सूर्य देवता आदित्य के तीर्थ से रहा होगा। वैसे देखा जाए तो जुन संप्रदाय अपने मूल स्वरूप में हिंदू था, बौद्ध या जरथुस्त्री नहीं।"[7]

"बहुरूपी देवता शिव और देवी दुर्गा के साथ गंधार का संबंध अब सर्वविदित है। जुन या सुन का पूर्वत: प्रतिष्टित स्वरूप मुख्यत: एक पर्वतीय देवता का था और पर्वतों से संबध तो शिवरूप के समग्र विन्यास को भी प्रकट करता है-शिव जो पर्वत के देवता हैं। ब्रहमांड की धुरी हैं और काल को नियंत्रित करने वाले महाकाल हैं...गंधार और इसके पड़ोसी देश असल में शास्त्रीय शिवमत की मुखर पृष्ठभूमि का प्रतिनिधित्व करते हैं।"[8]

पहली शती ईस्वी से सम्राट कनिष्क और उनके कुषाण उत्तराधिकारी अपने समय के चार महान शक्तिशाली यूरेशियाई साम्राज्यों में गिने जाते थे (अन्य साम्राज्य थे चीन, रोम और पार्थिया)। कुषाणों ने बौद्धधर्म को मध्य एशिया और चीन तक पहुंचाया, बौद्धधर्म की महायान शाखा का विकास किया और कला की मथुरा और गंधार शैलियों का भी विकास किया। कुषाण व्यापार के माध्यम से, विशेषकर रोम को निर्यात के माध्यम से अत्यंत समृद्ध हुए। उनकी मुद्रा और कला से प्रमाणित होता है कि वे धर्म को लेकर कितने सहिष्णु और समावेशी थे। गंधार शैली में क्लासिक रोमन कला के अनेक नमूने भी देखने को मिलते हैं परंतु यह शैली अपने मूल रूप में भारतीय ही रही।[9]

प्राचीन तक्षशिला और पेशावर

तक्षशिला का प्रसिद्ध नगर गंधार की राजधानी था। रामायण के अनुसार भरत ने यह नगर बसाया था और इसका नाम उनके बेटे तक्ष के नाम पर रखा गया था और तक्ष ही इसके पहले शासक हुए। बाद में यूनानी लेखकों ने तक्षशिला को टैक्सिला बनाकर छोटा कर दिया। कहा जाता है कि महाभारत का पहला पाठ इसी स्थान पर हुआ था। बौद्ध जातक कथाओं में इसे गंधार राज्य की राजधानी कहा गया है जो कि विद्या के महत्वपूर्ण केंद्र के रूप में प्रसिद्ध था।

इसके खंडहर देखने के लिए रावलपिंडी (पाकिस्तान) से टैक्सी में एक घंटे की यात्रा करनी पड़ती है। सामरिक दृष्टि से महत्वपूर्ण तक्षशिला पर तीन बड़े व्यापारिक मार्ग आकर

मिलते थे। एक तो पूर्वी भारत से आता था दूसरा पश्चिम एशिया, कश्मीर और तीसरा मध्य एशिया से आता था। मेगस्थिनीज ने इसे शाही राजपथ की संज्ञा दी थी। सिकंदर के साथ आए यूनानी इतिहासकारों के अनुसार तक्षशिला धनी, समृद्ध और सुशासित नगर था। सिकंदर के बाद ही तक्षशिला का विलय मौर्य साम्राज्य में कर के इसे एक राज्य की राजधानी बना दिया गया और यह तीन पीढ़ियों तक राजधानी बना रहा।

पहली शती ईस्वी में टियाना के संत अपोलोनियस ने तक्षशिला की यात्रा की। उनके जीवनीकार ने इसका वर्णन किलेबंद नगर के रूप में किया है जहां सारे भवन और अन्य निर्माण सुंदर और सुव्यवस्थित थे। इस नगर के आकार की तुलना प्राचीन असीरियन साम्राज्य के विशालतम नगरों से की जा सकती थी। बुद्ध के एक हजार वर्ष बाद भी चीनी बौद्ध यात्री फाहियान ने इसका वर्णन बौद्धधर्म के एक समृद्ध केंद्र के रूप में किया था। परंतु सातवीं शताब्दी ईस्वी में जब फाहियान चीन से भारत आया तो तक्षशिला हूणों के हाथों नष्ट हो चुका था। यह शिक्षा का एक प्रसिद्ध केंद्र था।

बाद में गंधार की राजधानी पुरुषपुर को बनाया गया गया (पुरुष का नगर, हिंदू विचार पद्धति में पुरुष ईश्वर का पर्याय है)। अकबर ने इस नगर का नाम पुरुषपुर से पेशावर कर दिया। इस उपमहाद्वीप के सबसे बड़े बौद्ध स्तूप (दूसरी शती ईस्वी) के खंडहर पेशावर के पास ही हैं जिनसे पता चलता है कि बौद्ध धर्म इस क्षेत्र में लंबे समय तक बना रहा। पुरुषपुर का उल्लेख आरंभिक संस्कृत साहित्य, स्ट्राबो और एरियान जैसे इतिहासकारों की कृतियों और भूगोलविद टोलेमी द्वारा लिखित दस्तावेजों में मिलता है। पहली शती ईस्वी में कनिष्क ने पुरुषपुर को कुषाण साम्राज्य की राजधानी बनाया। 988 ईस्वी में मुसलमानों ने इस पर अधिकार कर लिया।

नरसंहार भाग 1: सिंध पर अधिकार

इस समूचे गौरवशाली अतीत और एशिया की सभ्यता का नक्शा तब हमेशा के लिए बदल गया जब अरबों ने सातवीं शताब्दी में सिंध की खूनी लूटपाट की शुरुआत की:

"653-54 में 6000 अरबों की एक सेना घुसपैठ करके जुन के तीर्थ तक चढ़ आई। उनके सेनापति ने मूर्ति का एक हाथ तोड़ डाला और आंखों की जगह लगे माणिक रत्न निकाल लिए...अरब सैनिक अक्सर लूटमार करने पहुंच जाते और गुलाम बनाने के लिए किए जाने वाले उनके अभियान गजना, काबुल और बामियान तक पहुंचने लगे...अरब हमले जारी रहे और लूटमार जारी रही, गुलाम बनाए जाते रहे... ये गुलाम और पशु ही इन हमलों में कमाई गई मुख्य लूट हुआ करती थी और इनके जत्थे के जत्थे खलीफा के दरबार में भेजे जाने लगे थे।"[10]

आंद्रे विंक कहते हैं कि हिंदुस्तान को फतह करने की यह महत्वाकांक्षा हजरत मोहम्मद के समय से ही जोरों पर थी। इसका प्रमाण हदीसों में मिलता है:

"...हदीसों में हिंदुस्तान पर फतह प्राप्त करने के विचार को प्रोत्साहित करने का श्रेय हजरत मोहम्मद को ही ही दिया जाता है। जो लोग अल-हिंद अर्थात हिंदुओं के खिलाफ जिहाद में शामिल होंगे उन्हें दोजख की आग से निजात मिल जाएगी... परलोकविद्या के ग्रंथ किताब-अल-फित्न में मोहम्मद के इस कथन को रेखांकित किया गया है कि अल्लाह उस मुस्लिम फौज के सारे गुनाहों को माफ कर देगा जो अल-हिंद पर हमला करेंगे और उन्हें फतह हासिल होगी।"[11] इस लूट से माल-ए-गनीमत प्राप्त करने के लिए एक सरल सी व्यवस्था अपनाई गई। समृद्ध लोगों को मुसलमान फौजें कुछ नहीं कहती थीं। वे खुले दिल से मंदिरों में चढ़ावा चढ़ाते थे और मुसलमान मंदिरों को लूट लेते थे। मंदिरों को तबाह होने से बचाने के लिए हिंदू योद्धाओं ने लड़ने से इनकार कर दिया:

"और इन शासकों को उपलब्ध होने वाला अधिकांश धन उन तीर्थयात्रियों द्वारा दिए गए उपहारों से प्राप्त होता था जो सिंध और हिंद से मुल्तान के सूर्य-मंदिर में स्थापित विशाल मूर्ति (सनम) के दर्शन करने के लिए आते थे...जब मुहम्मद-अल-कासिम ने मुल्तान पर अधिकार कर लिया वह तुरंत ही समझ गया कि यही मंदिर इस कस्बे की समृद्धि का प्रमुख कारण है। उसने मंदिर के लगभग 6000 रक्षकों को बंदी बना लिया और इसका समूचा धन जब्त कर लिया परंतु मूर्ति को नहीं छेड़ा। यह मूर्ति लकड़ी की बनी हुई थी जिस पर लाल चमड़ा मढ़ा हुआ था और आंखों की जगह दो माणिक जड़े हुए थे। सर पर सोने का रत्नजड़ित मुकुट लगा हुआ था-, 'मूर्ति को वैसे का वैसा ही रखना उसे सही लगा, यद्यपि इसका अपमान करने के लिए उसने इसके गले में मांस का एक टुकड़ा लटका दिया।' अल कासिम ने उसी स्थान पर कस्बे के केंद्र में सबसे अधिक भीड-भाड़ वाले इलाके में अपनी मस्जिद बनवाई। पड़ोसी हिंदू राजाओं का प्रतिरोध ये शासक मस्जिद के कारण नहीं अपितु मंदिर पर कब्जे के कारण कर पाए। जब भी किसी 'काफिर राजा' ने मुल्तान पर हमला किया और मुसलमानों को लगा कि वे उपयुक्त प्रतिरोध नहीं कर पाएंगे तो उन्होंने मूर्ति को तोड़ने या नष्ट करने की धमकी दे डाली। कहा जाता है कि यह सुनकर हिंदू राजा आक्रमण किए बिना ही पीछे हट जाते। दसवीं शताब्दी के अंत तक आते आते इस्माइलियों ने मुल्तान पर अधिकार कर लिया और मूर्ति के टुकड़े-टुकड़े करके पुजारियों की हत्या कर दी। तब वहां एक नई मस्जिद बना दी गई।"[12]

नरसंहार भाग 2:महमूद गजनवी

गजनवी वंश का संस्थापक वैसे तो एक तुर्क गुलाम था, लेकिन ईरान के मुसलमानों ने उसे गजनी (कंधार के निकट एक कस्बा) के गवर्नर के रूप में मान्यता दे दी थी। उसके पुत्र महमूद (शासनकाल 998-1030) ने साम्राज्य का विस्तार करके भारत के भीतर तक ले आया। महमूद कट्टर मुसलमान था और उसने गजनवियों को मुसलमान बना दिया और इस तरह से इस्लाम उपमहाद्वीप

बाद में गंधार की राजधानी पुरुषपुर को बनाया गया गया। अकबर ने इस नगर का नाम पुरुषपुर से पेशावर कर दिया। इस उपमहाद्वीप के सबसे बड़े बौद्ध स्तूप (दूसरी शती ईस्वी) के खंडहर पेशावर के पास ही हैं जिनसे पता चलता है कि बौद्ध धर्म इस क्षेत्र में लंबे समय तक बना रहा

के आम लोगों तक पहुंच गया। ग्यारहवीं शताब्दी में उसने गजनी को गजनवियों के विशाल साम्राज्य की राजधानी बना दिया और इस तरह से अफगानिस्तान का प्रथम मुस्लिम साम्राज्य अस्तित्व में आया। महमूद गजनवी के अत्याचारों के सामने तालिबान बौने लगते हैं। विल ड्यूरेंट लिखते हैं:[13]

"भारत पर मुसलमानों का हमला इतिहास का सबसे खूनी हमला है। यह एक निराशाजनक वृत्तांत है जिससे हमें यह सीख मिलती है कि सभ्यता हमेशा जोखिम में रहने वाली चीज होती है, जिसकी व्यवस्था और स्वतंत्रता, शांति और संस्कृति का सूक्ष्म ढांचा किसी भी समय बर्बर आक्रमणकारियों द्वारा ध्वस्त की जा सकती है। वे बाहर से भी आक्रमण कर सकते हैं या भीतर ही भीतर अपनी संख्या बढ़ा कर भी हावी हो सकते हैं...चार सौ वर्षों (600-1000 ई.) तक भारत ने आक्रमण को निमंत्रण दिया और अंतत: आक्रमण हो ही गया।"

"997 ई. में महमूद नाम का एक तुर्क सामंत पूर्वी अफगानिस्तान में गजनी के छोटे से राज्य का सुल्तान बन गया। महमूद जानता था कि उसका राज्य नया था और उसके पास धन भी अधिक नहीं था। उसे साफ दिखाई दे रहा था कि सीमापार का देश भारत प्राचीन और समृद्ध था। बस फिर क्या था! काफिर बुतपरस्तों को तबाह करने के बहाने और माले गनीमत यानी काफिरों के धन को लूटने की पवित्र आकांक्षा और मजहबी उन्माद से प्रेरित सेना लेकर वह सीमा के पार गया। भीमनगर में वह मस्ती में जीवन जी रहे हिंदुओं पर टूट पड़ा, उन्हें जिबह कर दिया, शहरों के शहर बरबाद कर डाले, मंदिरों को ध्वस्त कर डाला और सदियों से जमा धन को लूट कर अपने साथ ले गया। वह गजनी लौटा तो उसने रत्नों, अनबेधे मोतियों और चिंगारियों या बर्फ से ढकी शराब की तरह चमकते माणिकों, मेंहदी की ताजा टहनियों की तरह चमकते पन्नों और अनार के आकार के हीरों का प्रदर्शन किया तो वहां उपस्थित विदेशी राजदूतों ने दांतों तले उंगली दबा ली।"

"हर साल सर्दी का मौसम आता तो महमूद भारत पर चढ़ आता, अपने खजाने को लूट के माल से भर देता और अपने सिपाहियों को लूट और कत्लो-गारत की खुली छूट दे देता। बहार का मौसम आता तो वह पहले से अधिक अमीर होकर लौटता। यमुना के तट पर मथुरा के मंदिर से वह सोने की सारी मूर्तियां ले गया जिनमें बहुमूल्य रत्न जड़े हुए थे, भारी मात्रा में वहां मौजूद सोना, चांदी और आभूषण भी उसने अपनी झोली में डाल दिए; इस महान तीर्थस्थल की वास्तुकला से तो वह अभिभूत ही हो गया और उसने कहा कि इसके जैसा दूसरा बनाने के लिए दस करोड़ दीनार खर्चने पड़ेंगे और दो सौ वर्षों तक काम करना पड़ेगा। इसके बाद उसने आदेश दिया कि मंदिर को तेल से सराबोर कर दिया जाए और आग लगाकर मंदिर का नामोनिशान मिटा दिया गया। छह वर्ष बाद उसने उत्तर भारत के एक और समृद्ध नगर सोमनाथ को निशाना बनाया, इसके सारे पचास हजार निवासियों को कत्ल कर दिया और वहां का सारा धन लेकर गजनी चला गया। अंतत: वह इतिहास का संभवत: सबसे समृद्ध शासक माना गया।"

"कई बार लूटने के बाद उसने नगरों के निवासियों को जीवित छोड़ दिया, और उन्हें गुलामों के रूप में बेचने के लिए अपने साथ ले गया। परंतु ऐसे बंदियों की संख्या इतनी हो गई कि कुछ बरसों के बाद एक गुलाम कौड़ियों के मोल बिकने लगा। प्रत्येक महत्वपूर्ण अभियान के बाद महमूद सिजदा करता और अल्लाह से अपने हथियारों को ताकत देने की दुआ करता। उसने बत्तीस वर्षों तक राज किया और भरपूर जिंदगी और इज्जत प्राप्त करके इस दुनिया को छोड़ गया। मुस्लिम इतिहासकार उसे अपने समय का महानतम शासक और सर्वकालिक महानतम शासकों में से एक मानते हैं।"

नरसंहार भाग 3 : महमूद गजनवी के बाद

महमूद गजनवी ने अन्य मुस्लिम आक्रांताओं की लूटमार और नृशंसता के लिए पथ प्रशस्त किया था, जैसा कि विल ड्यूरैंट लिखते हैं:[14]

1186 में गोरी नाम के अफगानिस्तान के एक तुर्क कबीले ने भारत पर आक्रमण करके दिल्ली पर अधिकार कर लिया, वहां के मंदिरों को तबाह करके सारी धन-दौलत को कब्जे में ले लिया और वहां के महलों में दिल्ली सल्तनत की स्थापना की-एक विदेशी तानाशाही ने तीन सदियों तक उत्तर भारत को जकड़े रखा और इस पर जितना भी अंकुश संभव था वह केवल हत्याओं और विद्रोह से ही लगाया जा सका। इन नृशंस सुल्तानों में से पहला था कुतुबुद्दीन ऐबक-क्रूरता का सामान्य नमूना-कट्टर, उन्मादी और दया ममता से रहित। उसकी अकूत धन-संपत्ति जैसा कि मुसलमान इतिहासकारों का कहना है, "उसे प्राप्त हुई थी सैकड़ों हजारों लोगों से और उसने जो हत्याएं की थीं वे भी सैकड़ों हजारों में थीं।" एक बार एक युद्ध में विजय प्राप्त करने के बाद इस योद्धा ने (जो स्वयं एक गुलाम के रूप में खरीदा गया था), "पचास हजार लोगों को गुलाम बना लिया और समूचा मैदान उन हिंदुओं से डामर की तरह काला पड़ गया।"

"एक अन्य सुलतान बल्बन विद्रोहियों और लुटेरों को हाथी के पांव तले कुचलवा देता था या उनकी खाल में भुस भरवाकर उन्हें दिल्ली के दरवाजों पर लटकवा देता था।"

"जब दिल्ली में बस चुके, इस्लाम को अपना चुके कुछ मंगोलों ने विद्रोह करने का प्रयत्न किया तो सुल्तान अलाउद्दीन (चितौड़ पर अधिकार करने वाला) ने सभी पुरुषों-जिनकी संख्या पंद्रह से तीस हजार तक थी, को एक ही दिन में मरवा डाला।"

"सुल्तान मुहम्मद बिन तुगलक ने अपने पिता की हत्या कर के सिंहासन प्राप्त किया। वह बहुत विद्वान और बेहतरीन लेखक था। गणित, भौतिकशास्त्र और यूनानी दर्शन में उसकी दिलचस्पी थी, परंतु रक्तपात और नृशंसता में उसने अपने पूर्वजों को पीछे छोड़ दिया। एक

कई बार लूटने के बाद उसने नगरों के निवासियों को जीवित छोड़ दिया, और उन्हें गुलामों के रूप में बेचने के लिए अपने साथ ले गया। परंतु ऐसे बंदियों की संख्या इतनी हो गई कि कुछ बरसों के बाद एक गुलाम कौड़ियों के मोल बिकने लगा। प्रत्येक महत्वपूर्ण अभियान के बाद महमूद सिजदा करता और अल्लाह से अपने हथियारों को ताकत देने की दुआ करता

विद्रोही भतीजे के मांस को उसने उसकी पत्नी और बच्चों को जबरदस्ती खिलवाया। वह ऐसा लापरवाह था कि मुद्रास्फीति इतनी बढ़ गई कि देश बरबाद हो गया। लूट और हत्या का ऐसा वातावरण था कि लोग जंगलों की ओर भाग गए। उसने इतने सारे हिंदुओं की हत्या करवाई कि एक मुसलमान इतिहासकार को लिखना पड़ा कि उसके शाही महल और दरबार के भवन के सामने शवों के ढेर के ढेर लगे रहते थे जबकि सफाई कर्मचारियों और जल्लादों की आदत ही हो चुकी थी कि वे बेचारे लोगों को घसीट कर ले जाते थे और उनकी सामूहिक हत्या कर देते थे।" नई राजधानी दौलताबाद की स्थापना करने के लिए उसने दिल्ली के हर निवासी को दौलताबाद कूच करने के लिए कहा और दिल्ली वीरान होकर रह गई..."

"फीरोज शाह ने बंगाल पर हमला किया, एक हिंदू के सर के लिए एक विशिष्ट धनराशि का इनाम रखा और 1,80,000 सरों के लिए धन का भुगतान किया। उसने हिंदू गांवों पर हमला किया ताकि लोगों को गुलाम बनाया जा सके, और अस्सी साल का जीवन जीने के बाद यह दुनिया छोड़ गया। सुल्तान अहमदशाह के साम्राज्य की सीमाओं के भीतर एक दिन में बीस हजार हिंदुओं की हत्या की गई तो उसने तीन दिनों तक जश्न मनाया।"

इन शासकों के पास एक ऐसा मजहब था जो अपनी प्रवृत्ति में ही सैन्यवादी था... उन्होंने हिंदू धर्म से संबंधित किसी भी कर्म के सार्वजनिक प्रदर्शन को अवैध घोषित कर दिया और इस तरह से हिंदू धर्म हिंदू आत्मा में और भी गहरे स्थापित होता चला गया। इनमें से कुछ नृशंस तानाशाह ऐसे भी थे जिन्हें संस्कृति की समझ थी और वे अत्यंत योग्य भी थे-उन्होंने कलाओं को संरक्षण दिया, कलाकारों और कारीगरों को-जो आम तौर पर हिंदू मूल के थे-काम पर रखा, ताकि भव्य मस्जिदों और मकबरों का निर्माण किया जा सके: उनमें से कुछ विद्वान भी थे जिन्हें इतिहासकारों, कवियों और वैज्ञानिकों के साथ बातचीत करना अच्छा लगता था।"

"सुल्तानों ने लोगों से वह हर रुपया निचोड़ा जिसे कर लगाने की प्राचीन कला से निकाला जा सकता था, साथ ही खुली डकैती का इस्तेमाल भी किया..."

आमतौर पर सुल्तानों की जो नीति थी उसे अलाउद्दीन ने बड़े ही स्पष्ट शब्दों में बयान किया था। उसने अपने सलाहकारों से स्पष्ट शब्दों में कह रखा था कि वे ऐसी नीतियां और नियम बनाएं जिनसे हिंदुओं को पीसा जा सके और उन्हें उस धन-संपत्ति से वंचित किया जा सके जिससे शासक के प्रति विरोध और विद्रोह को प्रोत्साहन मिलता है।"

जमीन की कुल उपज का आधा सरकार को जाता था; स्थानीय शासक छठा हिस्सा ले जाते थे. "एक मुसलमान इतिहासकार के अनुसार कोई भी हिंदू सर ऊंचा कर के नहीं चल सकता था, उनके घर में सोने-चांदी का नामोनिशान न था...और आवश्यकता से अधिक तो उनके घरों में कुछ था ही नहीं. ..लगान वसूलने के लिए पिटाई, गिरफ्तारी, बेड़ियों में जकड़ना, अनेक हथकंडे अपनाए जाते थे।"

"...तैमूर लंग एक तुर्क था जिसने एक जबरदस्त हथियार के रूप में इस्लाम को अपनाया था...सोना इकट्ठा करने की असीम भूख उसमें थी और उसे लगा कि भारत अभी काफिरों से भरा हुआ है। मुल्लाओं का कहना था कि कुरान की एक प्रेरक आयत बात को बिल्कुल स्पष्ट कर देती है: "ऐ नबी काफिरों और मुशरिकों के साथ युद्ध करो, और उनके साथ सख्त व्यवहार करो"। तो तैमूर ने 1398 में सिंधु नदी पार कर ली, जो लोग बचकर भाग न सके उन्हें या तो कत्ल कर दिया या गुलाम बना दिया, सुल्तान महमूद तुगलक की फौजों को हराकर दिल्ली पर अधिकार कर लिया, और दया ममता को एक तरफ रखते हुए एक लाख बंदियों को मौत के घाट उतार दिया। अफगान साम्राज्य ने जो भी धन जमा कर रखा था उसे अपने कब्जे में ले लिया और असंख्य स्त्रियों और गुलामों को अपने साथ समरकंद ले गया। पीछे छोड़ गया घोर अराजकता, अकाल और महामारी।"

"आधुनिक भारत के राजनीतिक इतिहास का यही रहस्य है। विभाजित होने के कारण यह आक्रांताओं का सम्मिलित विरोध न कर पाया, आक्रांताओं ने इसे कंगाल बना दिया तो यह प्रतिरोध की सारी शक्ति खो बैठा और इसने दिव्य शक्तियों में दर्द की दवा ढूंढी। इस त्रासदी से हमें यह कटु शिक्षा मिलती है कि सभ्यता को बनाए रखना है तो निरंतर चौकन्ना रहना होगा। एक देश को शांतिप्रिय होना ही चाहिए पर हथियारों की धार को भी हमेशा तेज बनाए रखना चाहिए।"

सदियों तक चले इन नरसंहारों के बीच भागते हुए हिंदुओं का एक हिस्सा यूरोप पहुंचा। आज जिन्हें यूरोप में रोमा कहा जाता है (प्रचलित शब्द 'जिप्सी' है जिसे वे अपमानजनक मानते हैं) वे भारतीय मूल के हैं और लगभग एक हजार साल से यूरोप में खानाबदोशों का जीवन जी रहे हैं। कहा जाता है कि वे मूलत: उत्तर पश्चिमी भारत से हैं जिसमें गंधार, पंजाब और राजस्थान आता है। यूरोप में उन्होंने गायन वादन के सार्वजनिक प्रदर्शन से अपनी रोजी-रोटी कमाई क्योंकि हजार वर्षों के बाद भी यूरोप ने इन्हें अपना हिस्सा नहीं माना है।[15] अब उन्होंने इस स्थिति के साथ समझौता कर लिया है और सड़क छाप जीवन को ही अपनी नियति मान लिया है। यूरोप का इतिहास रोमा लोगों के नामोनिशान को मिटा देने के प्रयत्नों के प्रकरणों से भरा हुआ है। यूरोप के लोगों ने जिस तरह से यूरोप से इतर समुदायों का जाति संहार किया या रोमा समुदाय के जाति संहार के प्रयत्न किया वैसे उदाहरण इतिहास में और नहीं मिलते।

मुस्लिम विद्वान और भारत

अरब, तुर्क और फारसी आक्रांता अपने साथ कुछ इतिहासकारों को भी लाए ताकि अपने युद्धों और उन युद्धों में अपनी जीत को महान उपलब्धियों के रूप में इतिहास में दर्ज करवा सकें। इनमें से अनेक इतिहासकारों को भारत से प्यार हो गया और उन्होंने गंधार और सिंध क्षेत्रों समेत भारत के जनजीवन के बेहतरीन विवरण लिखे। भारतीय ग्रंथों के जो अनुवाद उन्होंने किए उनका अनुवाद अनेक यूरोपीय भाषाओं में किया गया। इस तरह से यूरोपीय पुनर्जागरण को जो कुछ इस्लाम से प्राप्त हुआ था वह वास्तव में भारतीय योगदान था जो इस्लाम के माध्यम से यूरोप पहुंचा था। अनेक मुसलमान विद्वानों ने भारतीय समाज के प्रति अत्यंत श्रद्धा प्रकट की। जैसे अरबी साहित्य में आठवीं शताब्दी के सिंध में अनेक मंत्रियों, राजस्व और लेखा अधिकारियों, आदि का विवरण मिलता है जो ब्राह्मण थे और विजेता शासकों द्वारा नियुक्त किए गए थे। ये ब्राह्मण कहां के थे इसके बारे में कुछ पता नहीं है पर उनकी नियुक्ति को लाभकारी माना जाता था। उन्होंने अनेक नगरों की स्थापना की। उनके

मार्गदर्शन में सिंध समृद्ध हुआ काफी लोग वहां आकर बस गए।[16]

जातिभेद के बारे में इन इतिहासकारों ने बहुत कम लिखा है। परंपरागत जाति-अनुक्रम की बजाय व्यावसायिक वर्गों का विभाजन देखने को मिलता है, जैसे: 'पुरोहित, सैनिक, कृषक, कारीगर, व्यापारी'।"[17]

इन सभी मुसलमान विद्वानो में से अल बेरूनी ने भारत की सभ्यता का सबसे विस्तृत विवरण दिया है। अल बेरूनी की प्रसिद्ध पुस्तक इण्डिका की भूमिका में अरब विद्वान एडवर्ड सशाउ ने बताया है कि किस तरह से भारत अरब संस्कृति के एक बड़े हिस्से का स्रोत था।[18]

वे कहते हैं कि अरब साहित्य की नींव 750ई. से 850ई. के बीच रखी गई। अरबों के पास अपना कहने को केवल अपने मजहब, रसूल और काव्य की परंपरा है; और सब कुछ विदेशी है...यूनान फारस और भारत पर ही यह बोझ पड़ा कि वे अरब मानसिकता को जड़ता से बाहर निकालें...भारत का योगदान दो अलग-अलग रास्तों से बगदाद पहुंचा। एक तो सीधे संस्कृत से अनूदित होकर आया, दूसरा संस्कृत (पालि?प्राकृत?) से फारसी में अनूदित होकर ईरान के रास्ते आया और फिर फारसी से अरबी में इसका अनुवाद हुआ। इस प्रकार कलीला और दिम्ना की कहानियों के साथ-साथ औषधियों का प्रसिद्ध ग्रंथ चरक संहिता भी अरबों तक पहुंचा।"

"चूंकि सिंध खलीफा मंसूर (753 ई. से 774 ई.) के शासन के अंतर्गत था, तो भारत के इस भाग से बगदाद में दूतावास स्थापित होते थे, और उन दूतावासों में अनेक विद्वान भी आते थे जिन्होंने अपने साथ दो ग्रंथ लाए-ब्रह्मगुप्त (सरहिंद) का ब्रह्मसिद्धांत और उन्हीं का लिखा हुआ खंडखाद्यक (अर्कंड)। इन पंडितों की सहायता से अलफजरी और शायद याकूब बिन तारिक ने भी इन ग्रंथों का अनुवाद किया। दोनों ही ग्रंथों का व्यापक इस्तेमाल हुआ है और व्यापक प्रभाव भी पड़ा है। यही वह समय था जब पहली बार अरबों का परिचय खगोलशास्त्र की वैज्ञानिक व्यवस्था से हुआ। टोलेमी से पहले अरबों ने ब्रह्मगुप्त से ही ज्ञान प्राप्त किया था।"

"हिंदू ज्ञान का एक और प्रवाह आया हारून (786-808) के शासन के अंतर्गत। बर्माक का शाही वजारत से जुड़ा परिवार, जो उस समय सत्ता के शिखर पर था, बल्ख के सत्ताधारी शाही खानदान के साथ आ गया था, जहां उनका एक पूर्वज नौबहार अर्थात नवविहार के बौद्धविहार का अधिकारी था। बर्माक नाम मूलत: भारतीय है जिसका अर्थ है परामक यानी विहार का वरिष्ठ अधिकारी।"

"पारिवारिक परंपराओं का पालन करते हुए उन्होंने चिकित्सा विज्ञान और औषधिशास्त्र का अध्ययन करने के लिए विद्वानों को भारत भेजा। साथ ही वे हिंदू विद्वानों को बगदाद ले आए, उन्हें अपने शफाखानों के मुख्य चिकित्सकों के रूप में नियुक्त किया, और उनसे चिकित्सा विज्ञान, औषधिशास्त्र, विषशास्त्र, दर्शन, ज्योतिष और अन्य विषयों के संस्कृत ग्रंथों का अरबी अनुवाद करवाया। इसके बाद भी कई शताब्दियों तक बर्माक के प्रतिनिधियों के रूप में अनेक मुस्लिम विद्वान आते रहे, जैसे अल बेरुनी से कुछ ही समय पहले अल मुवक्कुफ आया था।"

अनेक अरब लेखकों तक हिंदुओं के माध्यम से जो विषय पहुंचे थे उन विषयों की मौलिक व्याख्याएं की गई। जो विषय उन्हें सबसे अच्छा लगता था वह था गणित जिसको उन्होंने अल्किन्दी और अन्य विद्वानों की व्याख्याओं के माध्यम से दूर दूर तक पहुंचाया।"

अल बेरूनी तथाकथित अरबी अंकों को लेकर कोई संदेह नहीं छोड़ता:

"जिन अरबी अंकों का प्रयोग हम करते हैं वे हिंदू चिन्हों के बेहतरीन रूपों से लिए गए हैं...अरब लोग भी, हजार की संख्या पर आकर रुक जाते हैं जो निस्संदेह सबसे सही और प्राकृतिक तरीका है...परंतु हिंदू ही हैं जो अंकों की अपनी व्यवस्था में, कम से कम गणित की तकनीकी दृष्टि से, हजार से परे चले जाते हैं। ये अंक या तो स्वतंत्र रूप से बनाए गए हैं या कुछ व्युत्पत्तियों के आधार पर उन्हें गढ़ा गया है, जबकि अन्य अंकों मं दोनों ही पद्धतियों का मिश्रण किया गया है। अंकों की संख्याओं को वे धार्मिक कारणों से अठारहवें क्रम तक ले जाते हैं और इस कार्य में गणितज्ञों की सहायता के लिए वैयाकरण तमाम तरह की व्युत्पत्तियों के साथ तैयार होते हैं।"

विज्ञान को विकसित करने वाला पहला देश भारत है। यह एक मजबूत राष्ट्र है जिसकी जनसंख्या भी विशाल है और यह एक समृद्ध राज्य भी है। अपने निवासियों की बुद्धिमता के लिए भारत जाना जाता है। सदियों से सभी शासकों ने ज्ञान के सभी क्षेत्रों में भारतीयों का लोहा माना है

इस्लाम के प्रभाव में आ चुके स्पेन में यूरोप के विद्वानों ने भारत को बहुत ही सकारात्मक दृष्टि से देखा। इसका प्रमाण मिलता है वैश्विक विज्ञान से संबंधित ग्यारहवीं शताब्दी के एक दुर्लभ ग्रंथ से जिसे स्पेन के तत्कालीन शासक ने प्रचारित किया था।[19] इसके लेखक सईद अल-अंदलूसी ने भारत को विज्ञान, गणित और संस्कृति के प्रमुख केंद्र के रूप में व्याख्यायित किया। कुछ अंश: "विज्ञान को विकसित करने वाला पहला देश भारत है। यह एक मजबूत राष्ट्र है जिसकी जनसंख्या भी विशाल है और यह एक समृद्ध राज्य भी है। अपने निवासियों की बुद्धिमता के लिए भारत जाना जाता है। सदियों से सभी शासकों ने ज्ञान के सभी क्षेत्रों में भारतीयों का लोहा माना है।"

"भारत के लोग, जैसे कि उन्हें सभी राष्ट्रों के लोग कई सदियों से जानते हैं, बुद्धिमता की प्रतिमूर्तियां हैं, न्याय और निष्पक्षता के स्रोत हैं। वे उदात्त चिंतन करने वाले, सार्वभौमिक नैतिकता के संवाहक, और उपयोगी एवं दुर्लभ आविष्कार करने वाले लोग हैं।"

"अंकों और ज्यामिति के क्षेत्रों में भारतीयों ने अद्भुत प्रगति की है। ग्रहों नक्षत्रों की गतिविधियों (खगोलशास्त्र), अंतरिक्ष के रहस्यों (ज्योतिष) और गणित के अन्य क्षेत्रों के अध्ययन को लेकर उन्होंने असीम सूचनाएं प्राप्त की हैं और ज्ञान के सर्वोच्च शिखर तक पहुंच गए हैं। चिकित्सा विज्ञान और विभिन्न औषधियों की शक्ति, यौगिकों की विशेषताओं और पदार्थों की विशिष्टताओं के ज्ञान (रसायनशास्त्र) में तो उन्होंने सबको पीछे छोड़ दिया है।"

"उनके राजा अपने उत्तम नैतिक सिद्धांतों, उनके बुद्धिमतापूर्ण निर्णयों और शासन की सटीक पद्धतियों के लिए विख्यात हैं।"

"संगीत को भारतीयों के योगदान के रूप में हमारे पास वह पुस्तक पहुंची है जिसमें स्वर-संगति और रागों की संरचना के सिद्धांतों का विवरण दिया गया है।"

"उनकी स्पष्ट सोच और अद्‌भुत आविष्कार क्षमता से हम तक पहुंचा है शतरंज का खेल। इसके कोष्ठकों की रचना, इसके दोहरे अंकों, प्रतीकों और रहस्यों के अन्वेषण में भारत के लोग ज्ञान की अग्रभूमि में स्थापित हो गए हैं। इसके रहस्यों को उन्होंने पराप्राकृतिक शक्तियों से निकालकर स्थापित किया है। यह खेल जब खेला जा रहा होता है और इसके मोहरों को चलाया जा रहा होता है तो इस समूची रचना के सौंदर्य और समरसता का अनुभव सहज ही हो जाता है। शत्रुओं को लेकर अनेक प्रकार की चेतावनियों के साथ ही खतरों से बचने की रणनीतियों और पद्धतियों की और ध्यान दिलाकर यह उच्चतम आकांक्षाओं और उदात्त कर्मों की अभिव्यक्ति करता है। और फिर देखा जाए तो इसमें फायदा ही फायदा है।

बारहवीं शताब्दी में भी स्पेन और सिसिली के भूगोलविद अल-इदरीसी (1100-1166) ने गंधार क्षेत्र के साथ-साथ काबुल को भी भारत के साथ रखा।[20] यह क्षेत्र तीन स्थानीय उत्पादों के निर्यात के लिए प्रसिद्ध था : नील, कपास और लोहा।[21]

क्या एक हजार वर्षों के बाद अफगानिस्तान में इस्लाम का इतिहास अपने आप को दोहरा रहा है? एक हजार वर्ष पहले अरबों और तुर्कों ने इस्लाम के नाम पर भारत में जो अत्याचार किए उनकी तुलना अफगानिस्तान में पिछले दस वर्षों में हुई घटनाओं से की जा सकती है। महमूद गजनवी के समय में भारत अन्य देशों की तुलना में उतना ही धनवान था जितना आज संयुक्त राज्य अमरीका है और इसीलिए निशाने पर था। तालिबान ने जिस विशिष्ट इस्लामी पोशाक को पहनना अनिवार्य कर दिया है वैसा ही मुस्लिम आक्रांताओं ने भी भारत में किया था। कुरान की वही व्याख्या तब भी इस्तेमाल की जाती थी जो आज पाकिस्तान, अफगानिस्तान और सऊदी अरब के हजारों मदरसों में पढ़ाई जाती है। तब भी प्रमुख लुटेरे अफगानिस्तान के स्थानीय निवासी नहीं थे अपितु अधिकतर अरब/तुर्क थे; आज भी वे प्रमुख रूप से अफगानी नहीं, पाकिस्तानी और अरब हैं जिनके अपने अपने स्वार्थ हैं।

यह सारा इतिहास आज हमें कहां ले जा रहा है? सबसे पहले तो मेरा यह अटल विश्वास है कि इतिहास को हमारे समकालीन समाज पर बोझ की तरह नहीं होना चाहिए, उर इसका अर्थ यह है कि अतीत के लिए दक्षिण एशिया के मुसलमानों को जिम्मेदार नहीं ठहराना चाहिए क्योंकि वे भी इसके शिकार ही थे। जर्मनों को नाजीवाद के बारे में इस तरह से पढ़ाया जाता है कि उन्हें इसे लेकर किसी तरह की ग्लानि न हो। अमरीकी स्कूलों में दास प्रथा के बारे में पढ़ाया जाता है तो कक्षा में श्वेत और अश्वेत दोनों ही तरह के विद्यार्थी होते हैं। अतीत के कुकृत्यों को दबाए रखना गैरजिम्मेदारी के अतिरिक्त कुछ नहीं है और इससे अनैतिक राजनीतिक शक्तियों को सीधे सादे लोगों का फायदा उठाने का मौका मिल जाता है।

महत्वपूर्ण बात यह है कि इस्लाम का भारतीय रूप संभवत: इस मजहब का सबसे परिष्कृत और उदार रूप है, क्योंकि इसे लंबे समय तक भारत की भूमि ने पोषित किया है। इस्लाम को वैसे ही सुधार की आवश्यकता है जैसा पिछली कुछ सदियों से ईसाइयत में हुआ है। भारत के पास अन्य धर्मों के साथ इस्लाम के सह-अस्तित्व के साथ-साथ सौहार्दपूर्ण हिंदू-बौद्ध संबंधों का भी लंबा अनुभव है, इसलिए यहां इस्लाम के उदारीकरण के लिए एक आदर्श वातावरण उपलब्ध हो जाता है। जिन राष्ट्रों में मुसलमान बहुसंख्यक हैं उनमें बहुलवाद, जनतंत्र और हिंदू-बौद्ध वातावरण का अभाव रहा है। पश्चिमी राष्ट्रों में मुसलमानों की संख्या बहुत कम है और इस्लाम के साथ उसके सीधे साक्षात्कार को अधिक समय नहीं हुआ है जिससे कि वह उसपर कुछ प्रभाव डालने के बारे में सोच पाता। भारत ही इस उद्देश्य के लिए आदर्श वातावरण उपलब्ध कराता है।

व्यापक दृष्टि से देखा जाए तो संघर्ष इस्लाम के विरुद्ध नहीं है अपितु जिस प्रकार से इस्लाम सामने आता है उससे है। यहां बात पाकिस्तान के भीतर पल रही परस्पर विरोधी अस्मिताओं से भी है जिसमें अरबीकरण और भारतीयकरण के बीच संघर्ष है। इस क्षेत्र में स्थायी शांति चाहिए तो अफगानिस्तान को फिर एक बार अरबी-फारसी और भारतीय सभ्यताओं के बीच समन्वय-बिंदु के रूप में सामने आना होगा। अत्यंत प्राचीन भारतीय और अरबी-फारसी सभ्यताओं के बीच में दबा हुआ और दोनों से अलग दिखने के लिए एड़ी-चोटी का जोर लगा रहा पाकिस्तान शुरू से ही अस्थिर रहा है। अभिजात भारतीयों के लिए जो अर्थ मैकॉलेवाद का है, वही अर्थ अस्मिता के अरबीकरण का पाकिस्तान के लिए है। पाकिस्तान के मामले में अंतर इतना है कि यह समाज के हर वर्ग में व्याप्त है। पाकिस्तान की यह मनोग्रंथि जो विरासत और अस्मिता के अभाव के बोध से पैदा हुई है असुरक्षा की इस भावना को संचालित करती है।

यह सोचने से राहत सी मिलती है कि सैंकड़ों मीडियाकर्मी जिन्होंने इस क्षेत्र में युद्धों की स्थिति में कार्य किया है क्षेत्र के इतिहास का बेहतर विवरण देने में सक्षम हैं। हैरानी की बात नहीं है कि उन्हें तो मामले के सिर-पैर का ही पता नहीं है। अफसोस की बात तो यह है की साजा (साउथ एशियन जर्नलिस्ट्स एसोसिएशन) अमरीकी जनता को इस क्षेत्र की स्थिति के बारे में बताने को लेकर कोई भूमिका निभाने में असफल रही है। अब इसे क्या कहा जाए अज्ञान या 'अतिभारतीय' समझे जाने की मनोग्रंथि?

पिछले पंद्रह बरसों में सरकारी, अकादमीय और निजी संस्थान दक्षिण एशिया के बारे में ऐसे शोध को लेकर आर्थिक सहायता उपलब्ध कराते रहे हैं जो जाति, गाय, विशिष्ट

व्यापक दृष्टि से देखा जाए तो संघर्ष इस्लाम के विरुद्ध नहीं है अपितु जिस प्रकार से इस्लाम सामने आता है उससे है। यहां बात पाकिस्तान के भीतर पल रही परस्पर विरोधी अस्मिताओं से भी है जिसमें अरबीकरण और भारतीयकरण के बीच संघर्ष है। इस क्षेत्र में स्थायी शांति चाहिए तो अफगानिस्तान को फिर एक बार अरबी-फारसी और भारतीय सभ्यताओं के बीच समन्वय-बिंदु के रूप में सामने आना होगा

वस्तुओं, सती और धर्म परिवर्तन करने वालों के विरुद्ध हिंदू विद्रोह पर केंद्रित रहे हैं और हिंदू समुदाय को एक "दुष्ट/रुढ़िवादी समुदाय" के रूप में प्रचारित करने का प्रयास किया है। इस प्रक्रिया में उन्होंने आइएसआइ द्वारा प्रायोजित वहाबी इस्लाम और अन्य आंदोलनों की पूरी तरह से उपेक्षा कर दी है। नतीजा यह हुआ कि शायद ही किसी दक्षिण एशियाई विशेषज्ञ को पाकिस्तान में चल रहे उन 39000 मदरसों के बारे में कुछ पता था जो आजकल मुसीबत पैदा कर रहे तालिबान और उनसे जुड़े आंदोलनों के गढ़ हैं। इन घटनाओं को आतंक से जुड़े लोगों को और और उनके समर्थकों के विश्वव्यापी संजाल के परिप्रेक्ष्य में देखा जाए तो ये धर्म से जुड़ी हुई दिखती हैं। फिर भी अकादमीय संरचनाओं के पास इन घटनाओं की व्याख्या करने और संसार को इनके बारे में शिक्षित करने के उद्देश्य को पूरा करने की समुचित व्यवस्था नहीं है। 11 सितंबर के बाद मैंने दक्षिण एशिया के धर्मों पर काम करने वाली, विद्वानों की एक व्यावसायिक संस्था रीसा (रिलिजंस इन साउथ एशिया) को एक पत्र लिखकर यह निवेदन किया था कि चूंकि दक्षिण एशिया की उनकी परिभाषा में अफगानिस्तान और पाकिस्तान दोनों ही आते हैं इसलिए नवंबर के अपने वार्षिक सम्मेलन में वे वहाबी-तालिबान विचारधारा पर व्यापक बहस करवाएं। दक्षिण एशियाई धर्मों का वस्तुपरक अध्ययन करने वाले विद्वानों का प्रमुख वैश्विक संगठन होने के बावजूद वे इस विषय पर बात करने में असफल रहे। इसके विपरीत हिंदुत्व से संबंधित पाठ्यपुस्तकों और वेबसाइटों में इस्लाम की उपेक्षा कैसे की जाती है, इस विषय पर बात करने के लिए उनके पास वक्ताओं का हुजूम था।

विद्वानों और मीडिया को यदि यह कहना पड़े कि अफगानिस्तान की भूमि ऐतिहासिक दृष्टि से बौद्धों और हिंदुओं के लिए वैसे ही पवित्र है जैसे यरुशलम यहूदियों के लिए और काबा मुसलमानों के लिए है तो उनकी घिग्घी बंध जाती है। आज जो गुफाएं कुख्यात हो चुकी हैं कभी हजारों बौद्ध भिक्षुओं और हिंदू ऋषियों के लिए साधना स्थलों के रूप में प्रतिष्ठित थीं जहां उन्होंने आध्यात्मिक ऊंचाइयां प्राप्त की थीं। यह पवित्र भूगोल हिंसक हाथों में आकर क्या से क्या हो गया इस स्थिति के साथ समझौता करना अभी भी कठिन लग रहा है। ■

संदर्भ संकेत

1. *"ड्रामेटिक कन्सेप्ट्स: ग्रीक एण्ड इण्डियन-ए स्टडी ऑफ पॉइटिक्स एण्ड नाट्यशास्त्र", भारत गुप्त, डी.के. प्रिंटवर्ल्ड (पी) लिमिटेड, नई दिल्ली, इण्डिया, 1994, पृ.21-231"*
2. *"दि मेकिंग ऑफ दि इंडो-इस्लामिक वर्ल्ड. खण्ड 1-अर्ली मिडीवल इण्डिया एण्ड दि एक्सपेंशन ऑफ इस्लाम 7-11 सेंचुरीज", आन्द्रे विंक, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली 1999, पृ.144-146."*
3. *विंक पृ. 112-114*
4. *विंक पृ.148-149.*
5. *विंक पृ.117-118.*
6. *विंक पृ.112-114.*
7. *विंक पृ.118*
8. *विंक पृ.119.*
9. *गंधार से संबंधित संदर्भ: जॉन मार्शल का ग्रंथ टैक्सिला, तीन खंड (1951,पुनर्मुद्रण 1975)। इसमें तक्षशिला के इतिहास और वहां हुये पुरातात्त्विक उत्खनन से संबंधित व्यापक विवरण उपलब्ध है। राधाकुमुद मुखर्जी का ग्रन्थ एन्शियन्ट इण्डियन एजुकेशन, चौथा संस्करण (1969) में अध्ययन और शिक्षण के केंद्र के रूप में तक्षशिला के महत्व का विस्तृत विवरण मिलता है। एक प्राचीन नगर के रूप में तक्षशिला के सामान्य विवरण के लिए देखें स्टुअर्ट पिगट की पुस्तक सम सिटीज ऑफ एंशियंट इंडिया (1945); बी.एन. पुरी की सिटीज ऑफ एंशियंट इंडिया (1966), अहमद हसन दानी की दि हिस्टॉरिक सिटी ऑफ टैक्सिला (1986) और सैफुर्रहमान डार की टैक्सिला एण्ड दि वैस्टर्न वर्ल्ड (1984)। एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका, 1993. खंड 11, पृ. 585-586; खंड 9, पृ.321, खंड 6, पृ 710-711; खंड 21, पृ.41, "स्टूडैंट्स ब्रिटैनिका इण्डिया" खंड 2, पृ.137-138, खंड 5, पृ.121-123।*
10. *विंक पृ .120।*
11. *विंक पृ.192-193.*
12. *विंक पृ. 187-188.*
13. *"दि स्टोरी ऑफ सिविलाइजेशन: आवर ऑरियन्टल हेरिटेज", विल ड्यूरैण्ट, एम जे एफ बुक्स, न्यूयॉर्क, 1935, पृ. 459-463.*
14. *ड्यूरैण्ट.*
15. *इस रोमा वेबसाइट पर यूरोप में रोमा समुदाय के जातिसंहार के प्रयत्नों के बारे में विस्तृत विवरण उपलब्ध है। इसके अंतर्गत जातिसंहार के वे प्रयत्न भी आते हैं जिन्हें सरकारी स्वीकृति प्राप्त थी: http://www-geocities-com/~patrin/*
16. *विंक पृ.150.*
17. *विंक 151.*
18. *अल्बेरूनी (973-1048 ई), ने, जो कि एक मुस्लिम विद्वान, गणितज्ञ और यूनानी ज्योतिष के भी विद्वान थे, बीस पुस्तकें लिखीं। उनका लिखा प्रमुख ग्रंथ इण्डिका (1030 ई.) अल्बेरूनीज इण्डिया, एडवर्ड सशाउ, लो प्राइस पब्लिकेशंस, नई दिल्ली, 1993 (पुनर्मुद्रण), प्रथम प्रकाशन 1910-1880 में अनूदित।*
19. *ग्यारहवीं शताब्दी में सईद अल अन्दलौसी ने अरबी में महत्वपूर्ण कृति "तबकात अल-उमाम" की रचना की जिसका अंग्रेजी अनुवाद "दि कैटेगरीज ऑफ नेशनज" शीर्षक से किया। अन्दलौसी उत्कृष्ट लेखक थे और मुस्लिम स्पेन के शासक के दरबार में न्यायाधीश के शक्तिशाली पद पर थे। इस कृति का टिप्पणियों सहित अनुवाद एस.आइ.सलेम और आलोक कुमार ने किया जिसे यूनिवर्सिटी ऑफ टेक्सास प्रेस ने "साइन्स इन दि मिडीवल वर्ल्ड" शीर्षक से छापा। ग्यारहवीं शताब्दी की पांडुलिपि का यह प्रथम अंग्रेजी अनुवाद है। उद्धरण पांचवे अध्याय 'साइन्स इन इन्डिया' से लिए गए हैं।*
20. *अहमद, एस.मकबूल, इण्डियन एण्ड दि नेबरिंग टेरिटरीज इन दि किताबे नुज्हत अल-मुश्ताक फई खतीराक अल-आफाक ऑफ अल-शरीफ अल-इदरीसी, ई.जे.ब्रिल, लीडन, 1960, पृ.58।*
21. *अहमद, पृ. 67।*

आर. टी. मोहन

सीमा के प्रहरी काबुल और गंधार की हिंदूशाही

(लगभग 650&1026 ई.)

अरब से बाहर आकर इस्लाम ने उन दिनों की दो विश्व शक्तियों यूनानी और फारसी साम्राज्यों को आसानी से जीत लिया, किंतु उनकी अपराजेय सेनाएं भारत की सरहद पर ठहर गईं। गंधार और खैबर घाटी में घुसने में उन्हें 350 वर्ष लगे। हिंदू इतिहास के इस स्वर्णिम काल को अलग-अलग विचारधाराओं के शासनों ने एक हजार वर्षों तक इतिहास से बाहर रखा। समय आ गया है कि अब आरंभिक भारतीय-इस्लामी इतिहास के इस काल को भारत के इतिहास की मुख्य धारा में शामिल किया जाए

गंधार वैदिक सभ्यता का रक्षागृह और वेदों का पालना था। कहा गया है कि शब्द 'गंधार' का प्रथम उल्लेख ऋग वेद में आया है और फिर अथर्व वेद तथा श्रौत सूत्रों में इसकी चर्चा हुई है। भारतीय साहित्य के कतिपय संदर्भों से पता चलता है कि गंधार की सीमाएँ इसके इतिहास के अलग-अलग कालों में बदलती रहीं। कुछ बौद्धों ने गंधार को एक पवित्र भूमि माना है। चीनी यात्री एकमत से मानते हैं कि यह सिंधु नदी के पूर्व में था किंतु वे इसकी सीमाओं को लेकर एकमत नहीं हैं। यह एक दुखद विषय है कि इस्लाम के आरंभिक आधिपत्य के चलते, सांस्कृतिक रूप से समृद्ध इस क्षेत्र के प्राचीन अतीत का कोई भी पुरालेखीय अभिलेख अथवा अन्य अवशेष उपलब्ध नहीं है।

शब्द 'अफगानिस्तान' अपेक्षाकृत नई उत्पत्ति का है। अफगानिस्तान, खासकर कोह हिंदुकुश के दक्षिण का क्षेत्र हमेशा से - सांस्कृतिक और राजनीतिक दृष्टि से - हिंदू भारत का एक अंग था। सभ्यताजन्य परिवर्तन व अंतरराष्ट्रीय व्यापार के दोराहे पर स्थित इस क्षेत्र पर विदेशी आक्रमणकारी अकसर कब्जा कर लेते थे, जो कभी-कभी भारत के भीतर तक चले आते थे। ऐसा विशेष रूप से मकदूनिया के सिकंदर (327-326 ई. पू.) के आक्रमण के बाद उस अशांत सहस्राब्दी के दौरान हुआ। हिंदू भारत ने शकों, बैक्ट्रियाई यूनानियों, कुषाणों और हूणों के एक के बाद एक लुटेरे गिरोहों को सफलतापूर्वक मार भगाया अथवा उन्हें देशी बना लिया और अफगानिस्तान पर अपनी संप्रभुता फिर से कायम की।

कोह हिंदुकुश भारत के पश्चिमोत्तर भूभाग की भौतिक और राजनीतिक सीमा था। चीन से स्थल मार्ग से पैदल आने वाले यात्री फा ह्यान और ह्वेन सांग ने अफगानिस्तान में प्रवेश किया जब उस देश के समाज में शांति का वातावरण था। काबुल के आसपास के एक क्षेत्र उद्यान की फा ह्यान की यात्रा (लगभग 400 ई.) के दौरान उन दिनों जो भाषा बोली जाती थी वह मध्य भारत की भाषा थी और लोगों का पहनावा-ओढ़ावा व खान-पान भी समान था। बौद्ध धर्म का बोलबाला था। अनेकानेक बौद्ध 'विहार' और हजारों बौद्ध मठाधीश थे। विदेशी आक्रमणों की हलचल के बाद उस काल के दौरान ये वहाँ की सांस्कृतिक स्थितियाँ थीं। किंतु, सातवीं शताब्दी में एक अन्य चीनी यात्री ह्वेन सांग के समय शेष भारत की तरह ही बौद्ध धर्म का क्षरण और ब्राह्मण धर्म (देव) का उत्थान हो रहा था। उसके अनुसार उद्यान में, ''पूर्व में वहाँ 1400 विहार थे किंतु इनमें से कई अब ध्वस्त हो चले थे, और कभी वहाँ 18,000 बौद्ध होते थे, किंतु इनकी संख्या धीरे-धीरे घटती गई और वे अब गिनती के ही रह गए थे।''

अफगानिस्तान की आबादी का एक बड़ा भाग भारतीय मूल का था, जो शेष भारत में प्रचलित प्रवृत्तियों के अनुरूप या तो बौद्ध धर्म का या फिर ब्राह्मण धर्म का अनुयायी था। अफगानिस्तान में बुद्ध की विशाल प्रतिमाएं, जिन्हें हाल में तालिबानियों ने ध्वस्त कर दिया, उस समय की स्मृतिशेष थीं। ह्वेन सांग लिखता है कि ''कपिशा का राजा एक क्षत्रिय (शुद्ध हिंदू) था, वह एक बुद्धिमान और साहसी व्यक्ति था और पड़ोस के दस से अधिक देशों पर उसका शासन था। वह एक दयालु शासक और बौद्ध धर्म का अनुयायी था।'' ह्वेन सांग को उस समय (644 ई.) तक वहाँ इस्लाम का कोई लक्षण नहीं मिला किंतु ईरान पर अरबों की विजय के बाद इस्लाम का एक शक्तिशाली चक्रवात अफगानिस्तान की पश्चिमी सरहद पर पहुँच चुका था।

इस्लाम का आविर्भाव और उत्थान

सन् 570 में अरब में जन्मे पैगंबर मुहम्मद ने 610 में अपने नए मजहब इस्लाम का उपदेश देना शुरू किया और सन् 632 में पैगंबर की मृत्यु के समय अरब के अधिकांश हिस्सों में नए मजहब और अरब, जिसकी राजधानी मदीना थी, के प्रति निष्ठा जोर पकड़ चुकी थी। किंतु, इस धर्म को अपनाने वालों के मन में इस्लाम के पूर्व की उनकी परंपराओं के प्रति गहरा सम्मान था और पैगंबर के शक्तिशाली प्रभाव के अभाव में इस्लाम को त्याग कर विभिन्न जातियों के लोगों ने पुनः उन्हीं परंपराओं को अपना लिया। पहले खलीफा (उत्तराधिकारी) अबू बकर (632-634) ने अवज्ञा करने वाली इन जातियों पर फिर से मदीना और इस्लाम की सत्ता कायम की। इस्लाम के विस्तार और अरब प्रदेश से बाहर उसकी विजयों की यह गाथा दूसरे खलीफा उमर (634-644) से शुरू होती है, जिसने 'अमीर-उल-मोमिन' की उपाधि धारण की जो 'उसके नेतृत्व के आध्यात्मिक और राजनीतिक तत्व' का सूचक था। राज्य की ओर से फतह और लूट के लिए छापामार दल भेजे गए।

मुहम्मद के उपदेशों में उनके अनुयायियों के लिए वह सब कुछ था, जिससे वे लोगों को इस्लाम धर्म कबूल करने को मजबूर कर सकते थे - जरूरत पड़ने पर बल का प्रयोग भी। इस्लाम का पवित्र ग्रंथ कहता है कि काफिर 'जहाँ भी मिलें' उनके विरुद्ध धर्म युद्ध करना मुसलमानों का दायित्व और ईमान है (कुरान, नवां, 5, 38-58, 87)। यह युद्ध 'उचित' है, इसका लक्ष्य विश्व में इस्लाम की सत्ता के अंतर्गत, इस्लामिक नियम के तहत इस्लाम का विस्तार और शांति की स्थापना करना है। अन्य लाभों के अतिरिक्त, छापामारों का विश्वास था कि वे ईश्वर का कार्य कर रहे थे।[1] (आंद्रे विंक)

इस्लाम के अस्तित्व में आने से पहले अरब अपनी ऊर्जा तुच्छ और आपस में निरंतर चलते संघर्ष में लगाते थे। अराजकता से देश को बचाने के लिए, बाद के खलीफा जिन छापामार दलों को भेजते, उन्हें वे समाज से दुखदायी तत्वों को दूर करने के लिए सुविधाजनक साधन मुहैया कराते थे। और, पैगंबर के जिहादियों को दिए गए वचनों के अतिरिक्त राज्य युद्ध में मिले लूट के सामान का एक

यूनानी साम्राज्य के एक भूभाग सीरिया पर एक वर्ष के भीतर शत्रु ने अधिकार कर लिया। तदनंतर अल्लाह के लड़ाकुओं ने फारसियों पर आक्रमण किया। वर्ष 637 में महान् ससानिद सेना में एक धूल भरी आँधी के दिन भगदड़ मच गई और वह विघटित हो गई और बिना कोई युद्ध किए मुस्लिमों ने राजधानी में प्रवेश किया

अति उदार अंश (पांच में चार हिस्से) लड़ाकुओं के अंश के रूप में घोषित कर देता था, शेष पाँचवाँ हिस्सा राज्य के खजाने में जाता था। धन और धर्मनिष्ठता की इस जुड़वाँ नीति के साथ, मदीना का नगर शासन एक अति शक्तिशाली और अति विशाल शासन बन गया।

उस समय दो विश्व-शक्तियाँ थीं - यूनानी (रोमन साम्राज्य का पूर्वी खंड) और ससानिद (फारसी) साम्राज्य। वे एक दूसरे से लड़ते हुए कमजोर हो चले थे। अरबों की भौतिक शक्ति उनके विरुद्ध हो गई थी। यूनानी साम्राज्य के एक भूभाग सीरिया पर एक वर्ष (सन् 636-37) के भीतर शत्रु ने अधिकार कर लिया। तदनंतर अल्लाह के लड़ाकुओं ने फारसियों पर आक्रमण किया। वर्ष 637 में महान् ससानिद सेना में एक धूल भरी आँधी के दिन भगदड़ मच गई और वह विघटित हो गई और बिना कोई युद्ध किए मुस्लिमों ने राजधानी में प्रवेश किया। मिस्र में यूनानी नौसेना के अड्डे अलेक्जेंड्रिया पर भी किसी जहाज अथवा युद्ध सामग्री के बिना एक वर्ष (सन् 640-41) के भीतर कब्जा कर लिया गया। वहाँ से अरब पश्चिम की ओर और आगे बढ़े और उत्तरी अफ्रीका की खानाबदोश जाति के देश त्रिपोली पर अधिकार कर लिया। फारसी सेना के पराभव के बावजूद फारस पर विजय पाने में एक दशक लग गया और यह कार्य सन् 643 में पूरा हुआ। इसके साथ ही खिलाफत साम्राज्य की सीमा भारत की सीमाओं - या वस्तुतः हिंदू अफगानिस्तान और सिंध की पश्चिमी सीमाओं - तक पहुँच गई।

दो शक्तिशाली साम्राज्य, दोनों महान सभ्यताएँ, अरबों के कदमों में लेट गईं। यह आश्चर्यजनक है कि अरबों द्वारा विजित कोई भी देश, इस तीव्रता और शांति के साथ, लंबे संमय तक प्रतिरोध करने में सफल नहीं रहा। यह भी एक पहेली है कि ये प्राचीन संस्कृतियाँ नए मत के जबर्दस्ती धर्मांतरण के कार्य का प्रतिरोध नहीं कर सकीं। धीरे-धीरे उनकी पूरी आबादी को इस्लाम में धर्मांतरित कर लिया गया।

यह भी उतना ही विचारणीय है कि दो महाद्वीपों के विशाल क्षेत्रों पर तेजी से विजय प्राप्त करने के बाद अरब की विजेता सेनाओं ने अल हिंद - हिंदू भारत - की ओर अपना प्रयाण जारी नहीं रखा। ''कई ग्रंथों में यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि भारत को जीतना मुसलमानों की आरंभिक प्राथमिकताओं में से एक थी और यह कि इस विजय को एक कठिन विजय के रूप में देखा जाता था, वस्तुतः इतना कठिन कि इसे अन्य विजयों से अलग रखा गया था।''[2] (आंद्रे विंक)

सातवीं शताब्दी के दौरान, अफगानिस्तान ने काबुलिस्तान (काबुल) और जाबुलिस्तान (जाबुल) के दो हिंदू राज्यों से समझौता किया, खास कर क्रमशः उत्तर-पूर्व और दक्षिण पश्चिम के क्षेत्रों के। शासकों के परिवार एक दूसरे के संबंधी थे और मध्य पूर्व पर अरब के आधिपत्य के कारण उत्पन्न खतरे का सामना करने के लिए दोनों राज्यों ने अपने-अपने प्रयासों का संयोजन किया। गजनी और सिस्तान (जाबुल का ईरान की सीमा से सटा धुर पश्चिमी प्रांत) के मध्यवर्ती क्षेत्र पर क्षत्रिय हिंदू राजाओं का शासन था,[3] जो संभवतः भट्टी राजपूतों के पूर्वज थे। वे अपनी उपाधि रणबल (या उसके अन्य रूप रतबल, जुनबल आदि) से जाने जाते हैं, इसके अतिरिक्त उनके बारे में कुछ ज्यादा पता नहीं है। उस वंश के सभी राजा इस उपाधि का उपयोग करते थे।

कई प्रयासों के बाद सन् 656 में अरबों ने सिस्तान पर कब्जा किया। विश्व पर विजय पाने वाले अरबों में हिंदू अफगानिस्तान को अपने वश में करने की शक्ति नहीं थी। इसलिए, सिस्तान से छापामार दल भेजे गए और, थोड़े समय के लिए, भारतीय सीमाओं पर वे केवल

दासों को ही पकड़ सके। कभी-कभी अरब सेनापति मारे जाते थे, या उन्हें पकड़ लिया जाता और फिरौती लेकर छोड़ा जाता था। जाबुल का राजा उस क्षेत्र के सभी लोगों को सुरक्षा नहीं दे पाता था, जिस पर छापामार जब-तब आक्रमण कर देते थे। इसलिए, इन राज्य प्रायोजित घुसपैठों से बचने के लिए वह कभी-कभी नजराना देने को तैयार हो जाता था। वास्तविक भुगतान किसी अवधि विशेष के दौरान वास्तविक 'उपद्रव की क्षमता' के अनुरूप तय किया जाता था। मुसलमान इतिहासकारों ने इसे उपहार कहा है और इसका भुगतान न कर पाने को आक्रमण के लिए बहाना बनाया है।

आधी शताब्दी के बाद ही, खलीफाशाही ने भारत के सीमाई प्रांतों के, जैसे अफगानिस्तान और सिंध के हिंदू शासकों से लोहा लेने के लिए विशेष सेनाओं का गठन किया। भारत ही एकमात्र ऐसा देश था जो सातवीं शताब्दी में अरब के मुसलमानों को आगे बढ़ने से रोक सकता था। अफगानिस्तान मुख्य दुर्ग प्राचीर था जहाँ हिंदू भारत तीन शताब्दियों से अधिक समय तक इस आक्रमण का मुकाबला करने के लिए डटा रहा।

जाबुल पर अरबों के आक्रमण की शर्मनाक असफलता

जब अब्दुल मलिक ने खिलाफतशाही की बागडोर सँभाली (684-705 ई.), तब हज्जाज बिन युसुफ को इराक का राज्यपाल बनाया गया (694-713)। उसने अपने कार्यालय में मानव जाति के प्रति एक अति निष्ठुर नीति बनाई। उसने तीन सेनाओं को अस्त्र-शस्त्र के साथ सुसज्जित कर प्रत्येक को अलग-अलग लक्ष्यों के साथ विदा किया। पहली सेना कुतैबा के नेतृत्व में उत्तर गई; ऑक्सस के पार पहुँची और बुखारा, समरकंद तथा फरगाना को कोह हिंदुकुश के उत्तर तक सीमित कर दिया; यह चीन के संपर्क में आकर काशघर में भी घुस गई। मुहम्मद-अल-कासिम के नेतृत्व में दूसरी सेना को सिस्तान और मकरान के रास्ते भेजा गया जिसने दाहर के राज्य को अपने अधीन कर लिया: यह एक हिंदुओं के लंबे प्रतिरोध की एक अलग गाथा है। अल हज्जाज ने सन् 698 में अपने अनुभवी सेनापति उबैदुल्ला बी. अली बकर के नेतृत्व में तीसरी सेना को इस आदेश के साथ भेजा कि वह रणबल के देश पर आक्रमण करे और उसे पूरी तरह से अपने अधीन कर, अथवा यदि आवश्यक हो तो ''रणबल के देश को बरबाद, उसके किलों को ध्वस्त, लोगों को मार और उन्हें गुलाम बनाकर ही'' वापस आए। ''चालाकी से पीछे हटते हुए, जाबुल के राजा रणबल ने मुस्लिम सेना को अंदर आने का प्रलोभन दिया, फिर पिछले रास्ते को बंद कर दिया, जिससे उनका पीछे लौटना असंभव हो गया। इस स्थिति में, सामने भुखमरी से भयानक खतरे को देख, विवश होकर उबैदुल्लाह को अपनी और अपनी सेना की उस जाल से, जिसमें असावधानी से वह उन्हें ले आया था, मुक्ति के लिए सात सौ हजार दिरहम की फिरौती देनी पड़ी।'' ओबैदुल्लाह को वचन देना पड़ा कि वह रणबल के भूभाग पर फिर चढ़ाई नहीं करेगा और अपनी सेनाओं की दुर्दशा देखकर वह दुख से मर गया: उनमें से कई लोग प्यास और भूख से मर गए।

मुस्लिम सेना का इस बुरी तरह से संहार हुआ और जीवित बचे लोगों की दशा इतनी दयनीय थी कि इसे ''जैश ए फना'' (मरणोन्मुख सेना) कहा गया। संभवत: सन् 1842 में घटी घटना एकमात्र ऐसी अन्य घटना थी जब उन्हीं चालों का उपयोग करते हुए अफगानों ने ब्रिटिश सेना को इसी प्रकार बरबाद कर दिया।[4]

एक अन्य सेना को किसी कदर मुसलमानों की खोई प्रतिष्ठा फिर से प्राप्त करने के लिए भेजा गया। इस बार हज्जाज ने मुहम्मद इब्न अल-अशथ के बेटे अब्दुर रहमान को 'सैन्य सामग्री से अच्छी तरह से सुसज्जित' 40,000 की शक्तिशाली फौज का मुखिया बनाकर भेजा। प्राय: सन् 700 में वे जाबुलिस्तान में घुसे जिसमें उन्हें कुछ सफलता मिली। किंतु, रुककर लड़ाई करने की बजाय वह लूट की संपत्ति लेकर अपनी सेना के साथ सिस्तान लौट आया, जहाँ से वह हज्जाज को चढ़ाई में मिली कामयाबी का किस्सा सुनाने चल पड़ा। ''विधर्मियों के विरुद्ध जिहाद छोड़कर वापस चले आने पर'' हज्जाज ने उसे बुरी तरह धिक्कारा और धमकी दी कि यदि उसने वर्ष समाप्त होने से पहले अपना कार्य पूरा नहीं किया तो उसे उसके पद से हटा दिया जाएगा। अब्दुर्रहमान के प्रधान सेनापतियों को पिछली सेना की दुर्दशा का पता था और रणबल के विरुद्ध लड़ाई करने को कतई तैयार नहीं थे। उनके प्रेरित करने पर, अब्दुर रहमान ने हज्जाज के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। यह खलीफाशाही - उसके समय की सर्वाधिक शक्तिशाली व्यवस्था - के विरुद्ध एक विद्रोह (फित्ना) था। इराक के लिए कूच करने से पहले, अब्दुर्रहमान ने धर्म (रणबल) के विरोधियों से एक संधि की जिसमें कहा गया कि यदि उसके अभियान में उसे सफलता मिलती है, तो रणबल को हमेशा के लिए हर प्रकार के नजराने देने से आजाद कर दिया जाएगा और खलीफा के विरुद्ध इस अभियान के असफल होने की स्थिति में रणबल ने उसे शरण देना स्वीकार किया।

आरंभ में अब्दुर्रहमान को कुछ विजय मिली और अंत में अपने झंडे तले 1,00,000 सिपाहियों के साथ उसने खलीफा से स्वयं लोहा लिया। खलीफा ने आकर्षक पद (उसकी पसंद के अनुरूप राज्यपाल आदि के पद) और उसके सिपाहियों के लिए विशेष वेतन और पेंशन का लाभ देकर उसे मनाने की कोशिश की किंतु उसके सैनिक स्वयं को अजेय मानते थे और झुकने को तैयार नहीं हुए। अंत में, खलीफा ने विवश होकर सहायता और युद्ध के लिए हज्जाज से अपील (जुलाई, 702), जिसमें हज्जाज को विजय मिली। अंततोगत्वा, अब्दुर रहमान रणबल के अधीन सुरक्षा के लिए पीछे हट गया।[5]

इस लड़ाई के फलस्वरूप समस्त खलीफाशाही में उत्तेजना की जो लहर सामने

बैल और घुड़सवार के चिन्ह वाली अल-मुक्तदिर की मुद्रा
साभार: https://www.icollector.com/ABBASID-al-Muqtadir-908-932-AR-donative-dirham-3-98g-NM-ND-VF_i29824524

आई, उसने रणबल की प्रतिष्ठा बढ़ा दी और वह धर्म युद्ध की कई अरब कहानियों का नायक बन गया। वह एक दुर्जेय शत्रु था, जिसने सिस्तान को अरबों के लिए एक अशुभ सीमा बना डाला था। रणबल के निरंतर जारी राजनीतिक हस्तक्षेप के फलस्वरूप इस्लाम का विस्तार रुका रहा और डेढ़ शताब्दी से ज्यादा समय तक इन क्षेत्रों में अरबों को कोई चिरस्थायी लाभ नहीं मिला।[6] जाबुल और काबुल दोनों हिंदू राज्यों ने अपनी संप्रभुता बनाए रखी। यह घोर असफलता अरबों के लिए एक अभूतपूर्व कलंक साबित हुआ, जिसने उस समय तक बिना किसी बाधा के विशाल क्षेत्रों पर कब्जा कर लिया था।

भारत पहला देश था जिसने अरबों की 'अजेय शक्ति' को थामा, उस समय जब उनका तात्विक उन्माद जारी था - मूल जिहादी। खैबर घाटी को भेदने में मुस्लिम शक्तियों (गज्नवियों) को और 300 वर्षों का समय लगा। फिर 200 वर्षों के प्रयास के बाद ही वे दिल्ली तक पहुँच सके।

अफगानिस्तान के गैर-अरब मुस्लिम राज्य

सैद्धांतिक रूप से, पैगंबर मुहम्मद के उत्तराधिकारी के रूप में खलीफा समस्त राजनीतिक सत्ता का स्रोत होता था। सभी मुसलमान शासक और कबायली सरदार उसके अधीनस्थ होते थे और उनके अधिकार को केवल वही स्वीकृति देकर कानूनी आधार दे सकता था। किंतु, खलीफाशाही की राजनीतिक शक्ति के क्षीण पड़ते जाने के कारण, दूरस्थ देशों में अब्बासी खलीफाओं द्वारा नियुक्त राज्यपालों ने खलीफा की दासता से स्वयं को मुक्त कर लिया और अपनी-अपनी स्वतंत्र सरदारी कायम कर लीं। और जब उन्होंने और शक्ति प्राप्त कर ली, तो खलीफा को उनके शासन को स्वीकृति प्रदान करने के लिए धमकी देना शुरू किया और अपनी साप्ताहिक प्रार्थना के बाद खलीफा के नाम पर खुत्बा पढ़कर उसके प्रति केवल दिखावटी प्रेम का प्रदर्शन करने लगे। ऐसे दो मुस्लिम राज्यों, अर्थात समानिद और सफरिद ने अफगानिस्तान में हिंदू राज्यों के निकट अपना सिर उठाया। रणबल डेढ़ शताब्दियों तक शांतिपूर्वक शासन करते रहे, इस दौरान अरबों या अन्य आक्रमणकारियों ने उन पर कोई गंभीर आक्रमण नहीं किया। इस खतरे का मुकाबला करने के लिए जाबुल और काबुल के राजाओं ने रक्षा क्षमता को मजबूत किया।

समानिद

समानिद राज्य की स्थापना एक धर्मांतरित पारसी जरथुस्त मतावलंबी समन के चार पोतों ने की थी। वे अब्बासिद खलीफा की ओर से चार क्षेत्रों पर शासन कर रहे थे। क्षेत्र में सत्तासीन होने वाला यह पहला स्थानीय राजवंश था - खलीफा से लगभग स्वतंत्र। धीरे-धीरे उन्होंने एक विशाल भूभाग पर अपने शासन का विस्तार कर लिया। आरंभिक समानिद अमीरों (शासकों) ने एक विस्तारवादी नीति अपनाई और इस राज्य को फारस (ईरान) के समृद्ध नगरों जैसे लाभप्रद उपहार मिले। किंतु, इसका साक्ष्य नहीं मिलता कि उन्होंने जाबुल और काबुल के हिंदू राज्यों के साथ कोई लड़ाई की हो। समकालीन मुस्लिम अभिलेखों में ऐसे किसी भी मुकाबले का उल्लेख नहीं है।

समानिदों के शासन में ट्रांसऑक्सियाना और खुरासान में उद्योग और वाणिज्य का विस्तार हुआ जिससे ये दोनों शहर समृद्ध हुए। समानिद कला के महान संरक्षक थे और बगदाद से प्रतिस्पर्धा करते हुए उन्होंने बुखारा व समरकंद को मशहूर सांस्कृतिक केंद्र बना डाला। यह इस क्षेत्र का शक्ति का मुख्य केंद्र था। समानिदों ने सेना और राज्य के अन्य कार्यालयों में सरहद पार (जैक्सकार्तेस) से तुर्की गुलामों को बहाल करना शुरू किया। दसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध तक, जब वे स्वयं 'उच्च संस्कृति' का पालन कर रहे थे, उन्होंने तुर्की सेनापतियों को प्रांतों के राज्यपालों समेत अपनी सेना की शिक्षा दी। अंततः एक विद्रोही तुर्की हिजाबी (द्वारपाल) ने गजनी में एक स्वतंत्र रियासत की स्थापना की, जिसने अपने स्वामियों अर्थात समानिदों समेत ओक्सस और गंगा के बीच के प्रत्येक राज्य को ललकारा।

सफ्फरिद

सिस्तान पर तीन प्रयासों के बाद खलीफाशाही ने अंततः सन् 656 में कब्जा कर लिया। अन्य बातों के अलावा फारसी आबादी के अपमान के कारण सिस्तान प्रांत के शासन में पर्याप्त फित्ना (आंतरिक कलह) व्याप्त था। अमीर याकूब के रूप में सिस्तान के एक गाँव में फारसी वंश में जन्मे याकूब-इब्न-लैथ ने सन् 861 में सिस्तान को अपने अधीन कर लिया। पेशे से सफ्फार, यानी ताम्रकार याकूब ने डकैती अपना ली और बटमारों का सरदार बन गया; फिर सेना में शामिल हुआ; उसका सेनापति बना; और आगे बढ़ते हुए सन् 861 में सिस्तान का अमीर बन बैठा।

छल का शिकार रणबल

बार-बार आक्रमण करते हुए याकूब ने खलीफाशाही से पूर्वी ईरान और बलूचिस्तान का क्षेत्र छीन लिया, किंतु इस क्रम में उसने पड़ोसी जाबुलिस्तान पर भी अपनी नजर गड़ाए रखी। उसने जाबुलिस्तान की पश्चिमी सीमा पर क्षेत्र को हड़पना शुरू किया और सन् 870 में रणबल स्वयं अपने नेतृत्व में सेना के साथ मामले से निपटने के लिए पहुँचा। जब याकूब 'शत्रु की विशाल फौज' के सामने पहुँचा तो छल-कपट तथा धोखे के सहारे संघर्ष से बचने का निर्णय किया। उसने सत्कार करने के बहाने रणबल की हत्या छल से करने की तरकीब सोच ली। ''जो विजय उसने हासिल की वह छल-कपट और धोखे का फल थी, जिसका सहारा किसी ने कभी नहीं लिया था।''[7]

इस प्रकार याकूब जाबुलिस्तान का स्वामी बन बैठा। फिर उसने बामियान पर आक्रमण किया जो वाणिज्य और संस्कृति का महान केंद्र था। वहाँ से उसने बाल्ख के लिए कूच किया। और कहा जाता है कि वहाँ के प्रसिद्ध मंदिर नौशाद को ध्वस्त कर दिया और उसकी

अन्य बातों के अलावा फारसी आबादी के अपमान के कारण सिस्तान प्रांत के शासन में पर्याप्त फित्ना (आंतरिक कलह) व्याप्त था। अमीर याकूब के रूप में सिस्तान के एक गाँव में फारसी वंश में जन्मे याकूब-इब्न-लैथ ने सन् 861 में सिस्तान को अपने अधीन कर लिया। पेशे से सफ्फार, यानी ताम्रकार याकूब ने डकैती अपना ली और बटमारों का सरदार बन गया

संपत्ति लूट ली। आगे बढ़ता हुआ वह काबुल की घाटी में पंजशीर तक जा पहुँचा, जहाँ वह कुछ वर्षों तक रहा और वहीं अपनी मुद्राएँ गढ़वाई।

याकूब के छल-कपट के फलस्वरूप, जाबुलिस्तान का हिंदू राज्य, जो दो शताब्दियों से अधिक समय तक वीरतापूर्वक प्रतिरोध करता रहा, समाप्त हो गया। यह राजनीतिक तथा सांस्कृतिक रूप से हिंदू भारत से विलुप्त हो गया, क्योंकि निवासियों का धीरे-धीरे ध र्मांतरण कराते हुए उन्हें मुससलमान बना दिया गया। खैबर दर्रे का रक्षक, निकटवर्ती काबुल का हिंदू राज्य भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा में तब्दील हो गया। अगली एक शताब्दी से अधिक समय तक यह अपने सहयोगी राज्य जाबुलिस्तान की तरह ही वीरतापूर्वक शत्रुओं से लड़ता रहा।

काबुल और गंधार की ब्राह्मण हिंदूशाही

संस्थापक कल्लर

हिंदुओं के राजा काबुल में रहते थे, तुर्क जिन्हें तिब्बती मूल का माना जाता था। ... इनमें से पहला बरहतकिन (था) ... (वह) काबुल के शाहिया की उपाधि से उन पर शासन करता था। यह शासन पीढ़ियों तक उसके वंशजों के अधीन रहा, जिनकी संख्या लगभग साठ बताई जाती है। ... इस जाति का अंतिम राजा लगतुरमन था, और कल्लर उसका वजीर था जो एक ब्राह्मण था। ... लगतुरमन की आदतें बुरी थीं, आचरण भी बुरा था, जिसके चलते प्रजा वजीर से उसकी बहुत शिकायतें करती थी। ऐसे में वजीर ने उसे जंजीरों में जकड़कर कारागार में डाल दिया ताकि उसकी बुरी आदतें छूट जाएँ ... और इस प्रकार उसने राज सिंहासन पर अपना अधि कार कर लिया। उसके बाद ब्राह्मण राजाओं समंद (सामंत), कमलू (कमलवर्मन), भीम (भीमा), जैपाल (जयपाल), आनंदपाल, तरोजनपाल (त्रिलोचनपाल) ने शासन किया। अंतिम शासक ए. एच. 412 (सन् 10.21) में मारा गया और उसके बाद उसके बेटे भीमपाल ने पाँच वर्ष (सन् 1026) तक शासन किया।[8] *(अबू रेहान 'अल बरूनी')*

पश्चिमी क्षेत्र में जब रणबल शासक लुटेरों के उत्पात का मुकाबला कर रहे थे,

अब्बासी खिलाफत, बगदाद, 908-930 ई. (खलीफ-अल-मुक्तदिर) की मुद्राएं जो स्पष्ट रूप से भारत के काबुलशाही राजवंश की मुद्राओं से प्रभावित दिखाई देती हैं
साभार: https://www.agefotostock.com/age/en/Stock-Images/Rights-Managed/GBP-CPA022498

तब काबुल के राज्य में एक क्रांति हुई। पूर्व का शासक वंश (अल बरूनी के अनुसार तुर्क हिंदू शाही) को ब्राह्मण वजीर कल्लर ने अपदस्थ कर एक नए वंश की स्थापना की जिसे साधारणतया ब्राह्मण हिंदू शाही कहा जाता है। इसका संस्थापक कल्लर (मुद्राओं पर स्पलपतिदेव के रूप में उल्लिखित) एक योग्य और सक्षम प्रशासक सिद्ध हुआ। उसके शासन ग्रहण करने के साथ, साही राज्य में अर्थव्यवस्था और राजनीतिक सत्ता के एक युग की शुरुआत हुई। समय-समय पर अरबों की घुसपैठ का भय अब नहीं रहा। एक धर्मनिष्ठ ब्राह्मण के रूप में वह स्वभाव से धार्मिक (शैव) था और एक कुशल क्षत्रिय के रूप में शासन किया और इसीलिए ब्राह्म-क्षत्र के रूप में उसका वर्णन किया गया है, जो ठीक ही है।

बैल और अश्वारोही की मुद्राएँ

रोमनों और कुषाणों की तरह ही उसने मुद्रा का उपयोग अपनी राजकीय शक्ति के प्रचार के माध्यम के रूप में किया। उसने 'बैल और अश्वारोही' अंकित मुद्राएँ जारी कीं।[9]

चित: दाईं तरफ एक लेटा हुआ बैल। बैल के पुट्ठे पर एक त्रिशूल अंकित है। बैल से ऊपर के क्षेत्र में सुंदर शारदा अक्षरों में महानायक 'श्री स्पलपतिदेव'उत्कीर्ण है।

पट: एक अश्वारोही (राजा?) दाएं हाथ में एक ध्वजायुक्त बर्छे के साथ दाई ओर बढ़ता हुआ

मुद्राओं पर नए महानायक स्पलपतिदेव ने शासन में परिवर्तन का संकेत दिया, आगे यह घोषणा भी थी कि इसकी बागडोर किसके हाथ में थी; ककुदमन बैल (*नंदी, शिव का एक वाहन*), त्रिशूल, शंख और नाम के अंत में देव ये सब इस बात का द्योतक थे कि नए शासक शैव धर्म के अनुयायी थे - यह पूर्ववर्ती राज्य-समर्थित बौद्ध धर्म पर निर्णायक विराम का संदेश था। शाही मुद्राओं के दूसरी ओर अंकित घोड़े पर सवार और हाथ में ऊपर उठा हुआ अस्त्र (बर्छा) थामे राजा नए प्रशासन की शक्ति का प्रबल संदेश था; शाही मुद्राओं पर शारदा लिपि का पहली बार उपयोग किया गया, और इस प्रथा को उनके उत्तराधिकारियों ने भी जारी रखा। स्पलपतिदेव निश्चय ही एक शक्तिशाली शासक रहा होगा क्योंकि उसके शासन काल के दौरान परंपरागत शत्रुओं से किसी भी गंभीर संकट का संकेत नहीं मिलता है और मुस्लिम कालक्रम वृत्तांतों में कल्लर/स्पलपतिदेव का कोई उल्लेख नहीं है।

एक धार्मिक ब्राह्मण के रूप में वह यह जरूर जानता होगा कि वह एक नश्वर मनुष्य है और उसकी आयु घट रही है। स्पलपतिदेव ने अपने कुल को बढ़ावा नहीं दिया। काबुल के सिंहासन के लिए उसने एक अति उपयुक्त अधिकारी का चयन किया और समुचित प्रशिक्षण देकर उसे सिंहासन पर बैठाया।

वक्कदेव

भारी संख्या में प्राप्त मुद्राओं में, जो ब्राह्मण हिंदू शाही राजाओं की हैं, कुछ ऐसी हैं जिन पर महानायक वक्कदेव और खुदवयक अंकित हैं, जिन नामों का अल बरूनी की सूची में उल्लेख नहीं है। अफगानिस्तान में हाल में मिले एक शिलालेख में शाही इतिहास के एक आरा प्रहेलिका की समस्याओं में से एक का हल उल्लिखित है।

श्री शाही वक्कदेव[10] के मजारे-ए-शरीफ *का अनुवाद*

ओम। वर्ष 138 में, अर्थात् एक सौ से अड़तीस अधिक, माघ के आधे शुक्ल पक्ष में, श्री शाही वेक (एसआइसी.), शक्तिशाली क्षंगिण द्वारा चिह्नित, पृथ्वी, बाजारों और दुर्गों को अपने

अधिकार में लेते हुए, आठ गुणा सैनिकों द्वारा; शिव भट्टारक की पुण्य छवि उमा के साथ मैत्यस्य में परिमह (महान) मैत्य द्वारा स्थापित की गई। यहाँ शिव भट्टारक की पूरी भक्ति के साथ पूजा की जाती है पुत्र के साथ दोनों की महत्ता के लिए; इसलिए उमा (उनके आशीर्वाद) के साथ शिव भट्टारक गुरु, माता और पिता की रक्षा कर सकते हैं। उमा के प्रेमपाश में लिपटे शिव के मंदिर में, आठ इष्ट अनुष्ठान स्वर्ग आदि की प्राप्ति के लिए किए जाने चाहिए। मित्र प्रसन्न रहें। श्री ...

अब तक वक्क के नाम का पता उसकी ताम्र मुद्राओं से ही चल पाया था। अब ऐसा प्रतीत होता है कि वक्क को स्पलपतिदेव ने भेजा था, जो काबुल से मध्य एशिया तक के व्यापार के परंपरागत मार्ग की सुरक्षा की दृष्टि से अति महत्वपूर्ण उत्तरी क्षेत्रों (मजार-ए-शरीफ) को जीतने के लिए स्वयं वजीर (अमात्य) बन गया था। वक्क को उस क्षेत्र पर शासन करने की और आगे चलकर सैन्य उत्तराधिकारी के रूप में अपने नाम से ताम्र मुद्राएँ (पाँच अंकों की शृंखला) जारी करने की अनुमति दी गई। उसी समय, स्पलपति अपनी ताम्र मुद्राएँ जारी करना छोड़ दिया किंतु अपने 'बैल और अश्वारोही' वाली चाँदी की मुद्राएँ (नौ अंकों की शृंखला) निर्गत करना जारी रखा।[11]

सामंतदेव

स्पलपति ने कालांतर में सामंतदेव के नए नाम से वक्क का शाही राज्य के शासक के रूप में राज्याभिषेक किया। यह नाम प्रत्यक्ष रूप से किसी इतिहास में नहीं मिलता है। किंतु, राज्यारोहण का उत्सव मनाने के लिए सामंतदेव ने 'हाथी पर राजा' की चाँदी की मुद्रा समेत कई मुद्राएँ जारी कीं।

इस काल के दौरान कभी-कभी शाही राजधानी का स्थानांतरण काबुल से सिंधु नदी के उत्तरी तट पर एटक से पंद्रह मील दूर स्थित उसी के समान महत्वपूर्ण एक अन्य शहर उदभांडपुर (उद्भांड, वहंद, ओहिंद या उंद) किया जाता था। काबुल के महत्व को देखते हुए, शाही राजकुमार को निश्चित रूप से वहाँ का राज्यपाल नियुक्त किया गया। जाबुल, जो इस्लामी शक्तियों के विरुद्ध एक प्रतिरोधक के रूप में कार्य किया करता था, के छिन जाने से और कोह हिंदुकुश पर याकूब का कब्जा हो जाने से, यह ठीक समय पर उठाया गया एक रणनीतिक कदम था। खैबर दर्रे और पंजाब के हिंदू राज्य से उसकी समीपता के मध्यवर्ती पहाड़ इसकी सुरक्षा करते थे, जिसे देखते हुए यह आगे चलकर एक अति बुद्धिमत्तापूर्ण निर्णय सिद्ध हुआ।

ऐसा प्रतीत होता है कि वक्क को स्पलपतिदेव ने भेजा था, जो काबुल से मध्य एशिया तक के व्यापार के परंपरागत मार्ग की सुरक्षा की दृष्टि से अति महत्वपूर्ण उत्तरी क्षेत्रों को जीतने के लिए स्वयं वजीर बन गया था। वक्क को उस क्षेत्र पर शासन करने की और आगे चलकर सैन्य उत्तराधिकारी के रूप में अपने नाम से ताम्र मुद्राएँ जारी करने की अनुमति दी गई

कल्हण की राजतरंगिणी में उद्भांडपुर के शाही शासक की एक अति सजीव विवरण मिलता है:[12]

लल्लीय शाही को अलाखान की सहायता - जो, (सिंहासनारूढ़) दरदों और तुरुश्कों के बीच, जैसे सिंह और भालू के बीच ... जिसके उद्भांड (अन्य) शहर में राजा सुरक्षित था ... जिसकी महान प्रभुता (से श्रेष्ठ) उत्तर के राजाओं, रश्मिमंडल (से श्रेष्ठ) आकाश में तारों - उसे सेवा में नहीं लगाया गया (शंकरवर्मन द्वारा), जो उसे उसकी संप्रभु पद से हटाना चाहता था।

शंकरवर्मन सन् 883 से 902 के बीच कश्मीर का राजा था। ऐतिहासिक दृष्टि से, यह उसे सामंतदेव (लगभग 860-895) का समकालीन ठहराता है, कम से कम कुछ समय तक के लिए। राजतरंगिणी का लल्लीय शाही निस्संदेह सामंतदेव, उस काल का शाही शासक।

सामंत की बैल और अश्वारोही अंकित मुद्राएँ अंतरराष्ट्रीय व्यापार में बहुत प्रचलित थीं और उसकी मृत्यु के बाद उसके उत्तराधिकारी भी, अपने नाम की मुद्राएँ जारी करते या न करते हुए उसकी इन मुद्राओं को जारी करते रहे। ''इन मुद्राओं की लोकप्रियता वोल्गा नदी, उत्तरी काला सागर, मास्को के निकट उत्तरी नेपर नदी और एस्टोनिया व पोलैंड में बाल्टिक तट से प्राप्त मुद्राओं से प्रमाणित हो जाती है। ... ऐसा अनुमान है कि हिंदू शाही शासकों के शासनकाल में 400 करोड़ से एक अरब के बीच बैल और अश्वारोही अंकित मुद्राएँ चलन में थीं।''[13] लगभग 908 ई. में अब्बासिद खलीफा अल मुक्तदिर ने इन शाही राजाओं की मुद्राओं के आकार-प्रकार की मुद्राएँ जारी कीं, अंतर केवल इतना था कि उनमें ऊपर उसने अरबी में अपना नाम लिखवा रखा था। इस अनूठे व्यवहार से कम से कम मुसलमान शासकों की दृष्टि में हिंदू शाही शासकों और उनकी मुद्राओं की गुणवत्ता के महत्व का संकेत मिलता है।''[14]

इस क्षेत्र में शाही शासक - उत्तर के सर्वाधिक शक्तिशाली शासक - दमखम और मर्यादा के साथ शासन कर रहे थे। यह अनुमान हास्यास्पद होगा कि याकूब ने उन्हें काबुल से निकाल दिया था: इतिहास में ऐसा कोई उल्लेख नहीं है कि इस काल में काबुल में कोई लड़ाई हुई हो।

खुदवयक

व्यापार: फारस की खाड़ी और भारत के बीच वाणिज्यिक संबंध हमेशा से गहरा रहा था, किंतु मुस्लिम शासन के दौरान यह एक समेकित व्यापार साम्राज्य के रूप में उभरा। आठवीं और नौवीं शताब्दियों से, इस्लाम के लिए भारत व्यापार सर्वाधिक महत्वपूर्ण रहा, क्योंकि इस उप-महाद्वीप और इसके भीतरी प्रदेश में वे सभी वस्तुएँ मिलती थीं, जिनकी विश्व बाजार में मांग थी। भारत का आयात-निर्यात हमेशा संतुलित था। ऐसा प्रतीत होता है कि मध्यकाल के आरंभ में भी उसकी पारंपरिक व्यापार क्षमता का विकास होता रहा और यहाँ निर्यात के लिए आवश्यकता से अधिक वस्तुएँ हमेशा उपलब्ध रहती थीं।[15] अपने उत्पाद के बदले भारत हमेशा सोना या बहुमूल्य धातु की मुद्राएँ ही स्वीकार करता था। यही कारण था कि भारती सामान खरीदने के लिए सन् 908 में एक अरब खलीफा को शाही मुद्राएँ बनवानी पड़ीं।

'काबुल और गंधार की शाही मुद्राओं के कालक्रमिक अनुक्रम' के अध्ययन के अनुसार सामंतदेव के उत्तराधिकारियों के शासन के

दौरान सामंतदेव के चित्रण के साथ बैल और अश्वारोही अंकित रजत मुद्राओं की कई शृंखलाएँ जारी की जाती रहीं। इससे पता चलता है कि उस समय शाही मुद्राओं के इस प्रकार विशेष की बहुत मांग थी।[16]

इस काल की बैल और अश्वारोही अंकित कुछ रजत मुद्राएँ मिली हैं, जिन पर खुदवयक या खुदरयक (शुद्ध रूप क्षुद्रराजक = छोटा राजा) का चित्रण है।[17] संभवत: काबुल पर शासन करने वाले शाही राजकुमार को तात्कालिक मांग को पूरा करने के लिए ये मुद्राएँ जारी करने की अनुमति थी।

कमलवर्मन

अल बरूनी के अनुसार, कमलू (अन्य नाम कमलवा, कमलवर्मन, तोरमन-कमलुका) सामंत का उत्तराधिकारी था।

सिस्तान के याकूब-ए-लियास, जिसने जाबुल को अपने राज्य में मिला लिया था, जिसकी गद्दी पर उसके भाई अमीर-ए-लियास को बैठाया गया। मुहम्मद उफी की एक हिकायत (उपाख्यान) है कि अमीर-ए-लियास ने फर्दगान को जाबुलिस्तान का राज्यपाल नियुक्त किया। जाबुल में हिंदुओं का एक विशाल उपासना स्थल था जिसका नाम सकवंद था जहाँ तीर्थाटन के लिए हिंदुस्तान के दूरदराज के क्षेत्रों से लोग आया करते थे। फर्दगान अपनी लश्कर के साथ सकवंद गया, मूर्तियों को तोड़ा, मूर्ति उपासकों को भगा दिया और लूट का कुछ हिस्सा अपने सिपाहियों को बाँट दिया। 'यह समाचार जब कमलू, जो हिंदुस्तान का राय था, के पास पहुँचा, तो उसने एक विशाल सेना एकत्र की और जाबुलिस्तान के लिए कूच किया।' कथा है कि इसकी जानकारी मिलने पर फर्दगान ने एक अफवाह फैला दी कि अमीर-ए-लियास एक विशाल सेना भेज रहा है, जिसे सुनकर शाही अपने रास्ते पर रुक गया।[18] यह कहानी चारों तरफ फैल गई, किंतु इसका उल्लेख केवल मुसलमानों के कालक्रम-अभिलेख में मिलता है।

इस बात के प्रामाणिक साक्ष्य उपलब्ध हैं कि उफी का यह प्रचलित उपाख्यान 'संपूर्ण सत्य' से दूर था। तारीख-ए-सिस्तान के अनुसार, इस उत्तेजना फैलाने वाले कार्य से दो भारतीय राजा (हिंदुस्तान के राय), जिनकी अष्ट और तोरमन के रूप में बहुत ही विकृत नाम मिले हैं, प्रतिशोध के लिए तैयार हो गए। उन्होंने अपनी-अपनी सेनाओं को मिला लिया और गजनी पर एकजुट होकर आक्रमण कर दिया।[19] हिंदू मंदिर को अपवित्र करने के विरुद्ध बदला लेने के लिए जिसने हाथ बढ़ाया, वह राय अष्ट कौन था?

राजतरंगिणी में शाही-विग्रह की एक घटना का दृष्टांत प्रस्तुत किया गया है, जिसमें एक विद्रोही शाही ने उद्भांड का सिंहासन छीन लिया और इसमें कश्मीर राज्य ने हस्तक्षेप किया। गोपालवर्मन (सन् 902-904) के मंत्री प्रभाकरदेव उद्भांड में शाही शक्ति पर आक्रमण किया जिसमें उसे विजय मिली और उसने ''लल्लीय के बेटे तोरमन को राजद्रोही शाही (अज्ञातिक्रमी शाही - व्यवस्था का उल्लंघन करने वाला एक शाही) का राज्य सौंप दिया और उसे एक नया नाम कमलुक दिया।''[20] इस पारिवारिक कलह के थोड़े ही समय बाद कमलवर्मन ने 896 से 921 तक शासन किया।

स्पलपतिदेव की मुद्राएं

भीमदेव

कमलवर्मन के बाद उसका बेटा भीमदेव सिंहासन पर बैठा, जिसका शिलालेखों और मुद्राओं में उल्लेख शाही श्री भीमदेव के रूप में किया गया है।

शाही श्री भीमदेव का देवई शिलालेख[21]

अनुवाद: सर्वोच्च संप्रभु (परमभट्टारक), महान राजाओं के राजा (महाराजाधिराज) और सर्वशक्तिमान ईश्वर (परमेश्वर) के द्वारा, वह शाही, महान भीमदेव, गदाधारी (गदाहस्त), महान कमलवर्मन कुलोत्पन्न (अथवा एक महान कुटुंब के कमलवर्मा से उत्पन्न)।

मुद्राएँ: भीमादेव ने कुछ ताम्र, रजत और स्वर्ण मुद्राएँ जारी की थीं। उसकी स्वर्ण मुद्राएँ कई अर्थों में अद्वितीय हैं:[22]

चित : दाढ़ी और लंबे बाल के साथ राजा, धोती और उत्तरीय पहने हुए ... सिंहासन पर पालथी मारकर बैठे हुए, दाईं भुजा फैलाए हुए (मानो कोई वस्तु प्राप्त कर रहे हों), ऊपर शाही श्री भीमदेव उल्लिखित।

पट : नुकीली दाढ़ी के साथ राजा, यज्ञोपवीत पहने और धोती धारण किए हुए, वत्रासन पर राजलीला मुद्रा में बैठे हुए, दायीं भुजा ऊपर उठी और तलहथी खुली हुई (मानो कुछ दे रहे हों)। शिलालेख पर श्रीमदगुणानिधि श्री सामंतदेव उत्कीर्णित है।

यह अपूर्व भंगिमा, मुद्रा के माध्यम से अपने महान पितामह (श्रीमद गुणनिधि) को ससम्मान स्मरण करना, जिन्होंने उनसे पहले शासन किया, किसी सिंहासनारूढ़ राजा की एक अति मर्मस्पर्शी श्रद्धांजलि है।

रक्षा के प्रति तत्परता: काबुल का शाही राज्य पश्चिम में शक्तिशाली समनिद और सफ्फरिद मुस्लिम राज्यों तथा दूसरी ओर कश्मीर, कन्नौज (प्रतिहार) और मुलतान से घिरा था। इस ब्राह्मणशाही राजवंश ने शक्ति और शान के साथ शासन किया और अपने एक शताब्दी से अधिक समय तक के शासन के दौरान कोई भी भूभाग नहीं खोया। उन्होंने पड़ोसी राज्यों के साथ 'शक्ति का संतुलन' बनाए रखा। विस 1011 (954-55 ई.)[23] का खजुराहो का चंदेला राजा धंग का शिलालेख एक रोचक जानकारी देता है कि गुर्जर प्रतिहार हेरंबपाल (उपनाम महिपाल) ने शाही राजा भीमादेव को एक बहुमूल्य परिग्रह, अर्थात्

एक वैकुंठ मूर्ति, जिसे मूलत: कैलाश से प्राप्त माना जाता था, के बदले हाथियों और घोड़ों की एक सेना दी थी।

कश्मीर। अब तक प्राप्त जानकारी के अनुसार, भीमादेव के केवल एक बेटी थी और कोई बेटा नहीं था। इस बेटी (अनाम) का विवाह लोहारा (पुंच-राजौरी क्षेत्र) के स्वामी 'राजा सिंहराज' से हुआ था।[24] इस विवाह से सिंहराज के एक बेटी हुई दिद्दा, जिसका विवाह कश्मीर के राजा क्षेमगुप्त (950-958) से हुआ। 'महान भीम शाही' ने कश्मीर में मार्तंड के निकट एक भव्य मंदिर का निर्माण कराया, जिसे भीमकेशव नाम दिया गया।

भीमदेव को समृद्ध शाही राज्य के सिंहासन पर निरापद रूप से बैठाया गया। किंतु, वह बूढ़ा हो रहा था और कोई उसका पुरुष उत्तराधिकारी नहीं था। उसकी दौहित्री दिद्दा कश्मीर की राज्य संरक्षक रानी थी, किंतु उसकी अपनी ही अनेकानेक समस्याएँ थीं और अफगानिस्तान कोई गुलाब का ताज नहीं था। ऐसा प्रतीत होता है कि भीमदेव ने काबुल के शाही राज्य को पंजाब के साथ मिला लेने का निर्णय लिया, उस पर भी योद्धा ब्राह्मणों (ब्राह्म-क्षत्र) का ही राज्य था। एक सच्चे ब्राह्मण के रूप में, अपने पूर्ववर्ती सावंतों और साधुओं की तरह उसने अपने ही निर्धारित समय पर आनुष्ठानपूर्वक देह त्याग कर दिया। यह बात उद्भांड (हुंद) में मिले एक पाषाण लेख से सिद्ध हो चुकी है।

जयपालदेव कालीन हुंद पट्ट लेख[25]

सिंधु के उत्तर... उद्भांड नामक एक नगर है, जिसे विद्वानों ने उनका गृह बना दिया है...वहाँ राजाओं का प्रधान अदम्य साहसी भीम रहता था, जिसने शत्रुओं की सेनाओं को परास्त किया था, जिसके शासन में उसका देश सुरक्षित था...जिसने भयंकर शत्रु के कारण नहीं बल्कि इच्छा (शिव की) से आत्मदाह कर लिया...उस देश का राजा (अब) जयपालदेव है...

एक स्थानीय कथा के अनुसार, सामंतदेव कल्लर (स्पलपतिदेव) का नहीं बल्कि एक अन्य ब्राह्मण परिवार का बेटा था। कमलवर्मन भीमदेव का बेटा और सामंतदेव (देववंश) का पौत्र था। जयपाल का संबंध पंजाब के एक अन्य ब्राह्मण शासक परिवार से था। जयपाल (पाल वंश) का बेटा आनंदपाल, पौत्र त्रिलोचनपाल और प्रपौत्र भीमपाल था।[26] जयपाल सरहिंद से काबुल तक फैले एक राज्य के सिंहासन पर बैठा।[27] इसके बाद की कथा मुख्य रूप से महमूद गजनवी के राजकीय इतिहासकार उत्बी (तारीख अल यामिनी) पर आधारित है। स्थान की कमी के कारण केवल मुख्य घटनाओं का उल्लेख किया जा रहा है।

समानिदों के एक विद्रोही राज्यपाल ने गजनी में एक स्वतंत्र सल्तनत कायम की था (965), जो निकटवर्ती मुस्लिम राज्यों पर कब्जा कर शक्तिशाली बन बैठा था। जयपाल दो दशकों तक शांतिपूर्वक शासन करता रहा, किंतु उसे पड़ोस की इस उभरती शक्ति के संकट का भान हो चुका था। उसने एक विशाल सेना एकत्र की और गजनी के शासक सबुक्तगीन पर आक्रमण कर दिया। सेनाएँ कई दिनों तक लड़ती रहीं। तभी एक असाधारण रूप से भयंकर बर्फानी तूफान आया। ''दोनों पक्षों की भारी संख्या में मवेशी और हजारों सैनिक मारे गए।''

जयपाल अपना उद्देश्य पूरा नहीं कर सका। कुछ समय के बाद एक बार फिर जयपाल ने आक्रमण किया और भयंकर लड़ाई हुई किंतु जयपाल सफल नहीं हुआ। उसके जवाब में सबुक्तगिन ने आक्रमण कर उसके राज्य का अफगानिस्तान का भूभाग उससे छिन गया, किंतु उद्भांड और पेशावर पर जयपाल का शासन बरकरार रहा। जीतने के बावजूद, सबुक्तगिन ने फिर आक्रमण नहीं किया, किंतु गजनी की सल्तनत अत्यधिक शक्तिशाली हो गई।

महमूद सन् 998 में गजनी की गद्दी पर बैठा। उसके बाद उसने अपने पश्चिमी मोर्चे पर खुरासान और अन्य मुस्लिम क्षेत्रों पर कब्जा कर लिया। फिर सन् 1001 में उसने पेशावर पर आक्रमण किया और अचानक किए गए आक्रमण में जयपाल हार गया। उसकी आयु क्षीण पड़ चुकी थी और अब वह मोक्ष चाहता था। शेष बचे शाही राज्य की रक्षा का भार बेटे आनंदपाल को सौंपकर उसने अपने पूर्ववर्ती और पुण्यात्मा संरक्षक भीमदेव की तरह देह त्याग दिया। यह भाग्यहीन जयपाल की एक सक्रिय जीवन से भव्य और विशिष्ट विदाई थी।

पंजाब से महमूद के स्वतंत्र आवागमन में शाही शासक अवरोध पैदा करते थे। इसलिए भाटिया (उच) और मुलतान को जीतकर उसने पहले अपने बाएं किनारे को सुरक्षित किया, जो शाहियों के मित्र थे।

सन् 1008 में खैबर दर्रे को पार करते हुए, उसने शाही क्षेत्र में प्रवेश किया। इस बार आनंदपाल तैयार था और दो सेनाएँ चालीस दिनों तक एक दूसरे का सामने डटी रहीं। अंत में, महमूद ने शत्रु को उकसाने के लिए अपने तीरंदाजों को आदेश दिया, ''लड़ाई सुबह से शाम तक चलती रही और काफिर (हिंदू) विजय के करीब थे।''[28] किंतु ''अचानक जिस हाथी पर सवार राजकुमार हिंदू घुड़सवारों को आदेश दे रहा था, वह नेष्था की गोलियों और तीरों की बौछार की चोट खाकर घूमा और भाग गया।''[29] इस स्थिति ने हिंदुओं में खलबली मचा दी जिन्होंने जब अपने सेनापति को भागता देखा तो रास्ता छोड़ दिया और भाग भी गए।

इसके पहले कि हिंदू फिर से संगठित हों, महमूद ने इस अनुकूल समय का लाभ उठाया और भीमनगर (वर्तमान नगरकोट) के मंदिर का पता लगा लिया। तीन दिनों तक घोर प्रतिरोध का सामना करने के बाद, महमूद ने दुर्ग पर अधिकार कर लिया। वहाँ उसे अपार संपत्ति मिली: सोने और चाँदी की शिलिकाएँ; जवाहरात और मोती और सोने की सत्तर करोड़ मुद्राएँ।

अगली लड़ाई आनंदपाल के बेटे त्रिलोचनपाल के शासन के दौरान हुई, जब सन् 1014 के वसंत में महमूद एक विशाल सेना के साथ पहुँचा। शाहियों ने उसे पहले रावलपिंडी के निकट मरगला दर्रे में, फिर पंजाब के नमक क्षेत्र में स्थित नंदन में और अंत में कश्मीर में तौसी (वर्तमान तोही) के निकट पहाड़ के पार्श्व में रोका।

यह एक शक्तिशाली प्रहार था जिसने क्षेत्र के एक शक्तिशाली सत्ता के रूप में शाहियों को ध्वस्त कर दिया। इसके साथ ही, गंधार सदा के लिए खो गए। राजतरंगिणी में कल्हण कहता है:[30]

प्रारब्ध के आगे कुछ भी असंभव नहीं है। यह संभव बना देता है उसे जो संभव न हो सपनों में, जो परे हो विचार से।

वह शाही राजवंश, अल्प संकेत मिलता है धरा पर जिसकी महानता का..., पूछता है अब कोई स्वयं से ही, साथ अपने राजा, मंत्रियों और अपने दरबार के, था भी यह कभी या नहीं था।

''इन शब्दों को उस भावना को सही ढंग से प्रस्तुत करने के रूप में देखा जा सकता है जो लोगों के मन में उस प्रलय के कारण पनपी थी।'' (एम.ए. स्टीन)

इससे भी अधिक मर्मस्पर्शी श्रद्धांजलि एक मुस्लिम विद्वान अल बरूनी ने दी जो महमूद गजनवी के काफिले के साथ भारत आया और लाहौर में अपने लंबे प्रवास के दौरान संभवत: त्रिलोचनपाल से मिला।

हिंदूशाही राजवंश अब समाप्त हो चुका है, और अब हलका से अवशेष भी नहीं बचा है। हमें कहना चाहिए कि उन्होंने अपने तमाम प्रताप में, उत्तम और सही राह पर चलने की उत्कट चाह को कभी मंद नहीं पड़ने दिया, कि वे उदात्त मनोभाव और उदात्त आचरण के लोग थे।[31]

ब्राह्मण हिंदूशाही वस्तुत: गंधार की धीरे-धीरे कुम्हलाती सभ्यता की उत्तराधिकारी थी, उस प्राचीन संस्कृति को एक श्रद्धांजलि थी, जो उनके दृश्य से ओझल हो जाने पर गंभीर संकट में घिर गई। ■

संदर्भ संकेत

1. *आंद्रे विंक, अल हिंद : दि मेकिंग ऑफ दि इंडो-इस्लामिक वर्ल्ड, खंड 1, अर्ली मेडिवल इंडिया एंड एक्स्पैंशन ऑफ इस्लाम 7वीं-11 वीं शताब्दी, पृ. 196, नई दिल्ली पुनर्मुद्रण, 1999।*
2. *आंद्रे विंक, अल हिंद : दि मेकिंग ऑफ दि इण्डो-इस्लामिक वर्ल्ड, वही, पृ. 192।*
3. *सी. वी. वैद्य, हिस्ट्री ऑफ मेडिवल हिंदू इंडिया, खंड 2, पृ. 159 : "ऐज देयर वॉज ए ब्राह्मण डाइनेस्टी इन काबुल, सो देयर वॉज ए क्षत्रिय डाइनेस्टी इन कंधार (जैसे काबुल में एक ब्राह्मण राजवंश था, उसी प्रकार कंधार में एक क्षत्रिय राजवंश था)।"*
4. *अब्दुर्रहमान, दि लास्ट टू डाइनेस्टीज ऑफ दि शाहीज, सेंटर फॉर द स्टडी ऑफ द सिविलाइजेशन ऑफ द सेंट्रल एशिया, काइद-ए-आजम यूनिवर्सिटी इस्लामाबाद, के निदेशक द्वारा प्रकाशित, 1979, पृ. 72, उद्धरण, अन्य विद्वानों के अतिरिक्त ए. फोर्ब्स, दि अफगान वॉर्स, (लंदन, 1892), पृ. 105-121।*
5. *अब्दुर्रहमान, दि लास्ट टू डायनेस्टीज ऑफ दि शाहीज, वही, पृ. 75।*
6. *जाबुल पर अरब के आक्रमण का यह वृत्तांत मुखय रूप से मेजर डेविड प्राइस के उनकी पुस्तक मोहम्मदन हिस्ट्री... (लंदन, 1821), खंड 1, अध्याय 13, पृ. 454-463, में उनके कथन पर आधारित है। प्रत्येक प्रासंगिक पृष्ठ/पैरा के पार्श्व में प्राइस ने अपने प्रमाण के रूप में खोंडामिर के खलासत-अल-अखबार को प्रस्तुत किया है। सन् 1475 ई. में हेरात में अस्तित्व में आए खलासत-अल-अखबार सन् 1499-1500 में खोंडामिर ने लिखा था। वह अपने समय के महानतम इतिहासकारों में से एक था। वह सन् 1528 में भारत आया और बादशाह बाबर की सेवा में कार्य करना शुरू किया। उसकी मृत्यु के बाद खोंडमीर ने उसके बेटे हुमायूं की सेवा की। कई अन्य विद्वानों के अतिरिक्त, एच. एम. इलियट और जॉन डाउसन ने इस घटना का उल्लेख किया है, हिस्ट्री ऑफ इंडिया ऐज टोल्ड बाइ इट्स ओन हिस्टोरियन्स, खंड 2, पृ. 416-417; आंद्रे विंक, अल हिंद, पृ. 121-123, उद्धरण, सी.ई. बोसवर्थ का सिस्तान अंडर अरब्स; और डॉ. गुस्ताव वील, ए हिस्ट्री ऑफ द इस्लामिक पीपल, जर्मन से अंग्रेजी अनुवाद एस. खुदा बख्श (दिल्ली 1914, पुनर्मुद्रण 1983), पृ. 122-126।*
7. *मुहम्मद उफी, जमी उल हिकायत, इलियट व डाउसन, हिस्ट्री ऑफ इंडिया बाइ इट्स ओन हिस्टोरियंस, खंड 2, पृ. 176-179।*
8. *एडवर्ड सी. सखाऊ, अनु., अलबेरूनीज इंडिया, खंड 2, पृ. 10-13।*
9. *अब्दुर्रहमान, द लास्ट टू डायनेस्टीज ऑफ दि शाहीज, वही, पृ. 188।*
10. *आर. टी. मोहन, अफगानिस्तान रीविजिटेड : द ब्राह्मण हिंदू शाहीज ऑफ अफगानिस्तान एंड द पंजाब (लगभग 840-1026 ई.), (दिल्ली, 2010) पृ. 162-163; इसके अतिरिक्त, जर्नल ऑफ एशियन सिविलाइजेशंस (इस्लामाबाद), खंड 24, अंक 1, जुलाई 2001, पृ. 81-86।*
11. *डेविड डब्ल्यू. मैकडॉवल, "द शाहीज ऑफ काबुल एंड गंधार", न्यूमिज्मेटिक क्रॉनिकल, सप्तम शृंखला, खंड 8, 1968, पृ. 201-202।*
12. *एम. ए. स्टीन, राजतरंगिणी, खंड 1, 5। 152-155।*
13. *ईयान ब्लांचार्ड, माइनिंग, मेटालर्जी एंड माइनिंग इन द मिडल एजेज, खंड 3, 'कंटिन्यूइंग एफ्रो-यूरोपियन सुप्रिमेसी, 1250-1450' पृ. 1222 (स्टटगार्ट, 2005।*
14. *ओलफ कारे, द पठांस, पृ. 111।*
15. *आंद्रे विंक, अल हिंद : द मेकिंग ऑफ इंडो-इस्लामिक वर्ल्ड, वही, पृ. 64।*
16. *डेविड डब्ल्यू. मैकडॉवल, 'द शाहीज ऑफ काबुल एंड गंधार', पृ. 189-224।*
17. *अब्दुर रहमान, द लास्ट टू डायनेस्टीज ऑफ द शाहीज, वही, पृ. 105 और 257।*
18. *मुहम्मद उफी, जमी उल हिकायत, इलियट व डाउसन हिस्ट्री ऑफ इंडिया ऐज टोल्ड बाइ इट्स ओन हिस्टोरियंस, खंड 2, पृ. 172। 'सकवंद गजनी से लगभग 35 मील दूर उत्तर-पूर्व में स्थित है।'*
19. *तुलनीय, अब्दुर्रहमान, द लास्ट टू डायनेस्टीज ऑफ दि शाहीज, वही, पृ. 110-116, उद्धरण तारीख-ए-सिस्तान, पृ. 255-256।*
20. *एम. ए. स्टीन, राजतरंगिणी, खंड 1, 5। 232-33।*
21. *डी. आर. सहनी, शसिक्स इन्सक्रिप्शंस इन द लाहौर म्यूजियमश से, एपिग्राफिया इंडिका, खंड 21 अंक 44, 1931-32, पृ. 298-299, किंचित डी. बी. पांडेय द्वारा पूर्वावस्था में प्रस्तुत, द शाहीज ऑफ अफगानिस्तान एंड द पंजाब, पृ. 165।*
22. *ए. घोष, 'ए यूनीक गोल्ड कॉइन ऑफ द हिंदू किंग्स ऑफ काबुल', न्यूमिज्मेटिक क्रॉनिकल, खंड 12, शृंखला क्रम 6,1952, पृ. 133-135।*
23. *केल्होर्न, 'खजुराहो स्टोन इंस्क्रिप्शन ऑफ धंगा', वीएस 1011 एपिग्राफिया इंडिका, खंड 1, 1892-93, पृ. 122-135।*
24. *एम. ए. स्टीन, राजतरंगिणी, खंड 1, 6। 176-78।*
25. *संपूर्ण मूलपाठ : आर. टी. मोहन, अफगानिस्तान रीविजिटेड..., वही, परिशिष्ट-सी, पृ. 170-72।*
26. *रायजादा हरिचंद वैद, गुलशने मोहयाली, (उर्दू) लाहौर 1923।*
27. *जॉन ब्रिग्स, अनु., हिस्ट्री ऑफ द राइज ऑफ द मोहम्मदन पॉवर इन इंडिया, मूल फारसी महोमद कासिम फरिश्ता, खंड 1, पृ. 9।*
28. *अल उत्बी, तारीख यामिनी, एच.एम. इलियट व जॉन डाउसन, हिस्ट्री ऑफ इंडिया ऐज टोल्ड बाइ इट्स ओन हिस्टोरियंस, खंड 2, पृ. 33।*
29. *जॉन ब्रिग्स, फरिश्ता, वही, पृ. 27।*
30. *एम. ए. स्टीन, राजतरंगिणी, 7। 67-69।*
31. *एडवर्ड सी. सखाऊ, अनु., अलबेरूनीज इंडिया, खंड 2, पृ. 13।*

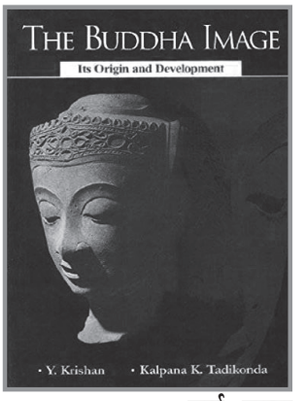

वाई. कृष्ण

बुद्ध की प्रतिमा इसका उद्भव और विकास

भारत में स्थापत्य कला की एक लंबी परंपरा है और मूर्तिकला में पर्याप्त विशेषज्ञता भी। इसके बावजूद यहाँ यूनानियों के आगमन से पहले बुद्ध की कोई मूर्त मानवरूपी प्रतिमा हमें नहीं मिलती। भगवान बुद्ध की हमारी गढ़ी हुई जो आरंभिक प्रतिमाएं हैं वे अमूर्त और केवल प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति वाली हैं। बाद में हमें यह मूर्त रूप में मिलने लगती हैं। वे तत्व जो अमूर्त से मूर्त रूप में परिवर्तन के कारण बने बहुत महत्वपूर्ण और रोचक हैं

यह पुस्तक वौद्ध कला के कुछ आधारभुत विवादों से संबंधित है। इनमें सबसे पहले आती है 'आरंभिक अमूर्त बौद्ध कला'। भरहुत और सांची में प्राप्त होने वाले बौद्ध कला के सबसे पहले अवशेषों में अमूर्तता के दर्शन होते हैं। इन अवशेषों में वैदिक परंपरा का पालन करते हुए बुद्ध को प्रतीकों के माध्यम से अभिव्यक्त किया गया है। इसके बाद गंधार और मथुरा की जो बौद्ध कला शैलियां सामने आती हैं इनमें बुद्ध की मूर्त अभिव्यक्ति देखने को मिलती है। इससे एक अत्यंत शक्तिशाली कलात्मक ऊर्जा को प्रोत्साहन मिला और जिसने अत्यंत गहन और प्रखर कलाकृतियों को जन्म दिया-बुद्ध की प्रतिमाओं के साथ-साथ तथागत के जीवन की घटनाओं को भी प्रतिमाओं में ढाला जाने लगा। इसकी पराकाष्ठा देखने को मिलती है पांचवीं शताब्दी में सारनाथ बुद्ध के रूप में जो विश्व कला की अद्वितीय रचनाओं में से है और समूचे एशिया में बुद्ध के सिर की प्रतिमाओं का आदर्श प्रतिमान मानी जाती हैं। इन प्रतिमाओं से स्पष्ट होता है कि किस तरह से बौद्ध कला ने अमूर्तता से मानवरूपी मूर्तता तक की यात्रा की थी।

बुद्ध की प्रतिमा का निर्माण हुआ तो उसे कहीं स्थापित करने की आवश्यकता भी उत्पन्न हुई। इसके लिए चौत्यों और मंदिरों का निर्माण किया गया जिसके भीतर बुद्ध की प्रतिमा प्रतिष्ठापित हुई।

इस प्रकार मानवरूप में बुद्ध की प्रतिमा के निर्माण से बौद्ध कला और स्थापत्य को महत्वपूर्ण प्रेरणा प्राप्त हुई।

अत: जिन कारणों से बौद्ध कला अमूर्त से मूर्त में परिवर्तित हुई, वे अत्यंत महत्वपूर्ण और रोचक हैं।

आम तौर पर ऐसा माना जाता है कि आरंभिक बौद्ध कला में जो अमूर्तन या मानवरूप से रहित अभिव्यक्तियां मिलती हैं वे सबसे पहले बौद्ध धर्म को स्वीकार करने वाले हीनयानी बौद्धों के इस विश्वास के कारण थीं कि शाक्यमुनि बुद्ध मानवरूप में अभिव्यक्त नहीं किए जा सकते क्योंकि वे ऐसे सामान्य व्यक्ति नहीं, जिन्हें मूर्ति में नहीं ढाला जा सके। क्योंकि बौद्धधर्म के विधान के अनुसार गौतम को मानव के रूप में लेकर उन पर देवत्व का आरोपण करने की मनाही थी। परंतु ऐसा नहीं था। तब जो बौद्ध कला उपलब्ध थी अमूर्तन केवल उसी में देखने को नहीं मिलता था। खंडगिरि और उदयगिरि की समकालीन आरंभिक जैन कला में भी अमूर्तन और मानवरूपी मूर्तता से रहित अभिव्यक्तियां उपलब्ध होती हैं। हमारे पास यह मानने के पर्याप्त कारण हैं कि आरंभिक बौद्ध कला में उपलब्ध अमूर्तन ने वैदिक विचारपद्धति से आधार प्राप्त किया था जिनमें सर्वोच्च देवताओं की कल्पना प्रकृति की निर्वैयक्तिक अमूर्त शक्तियों के रूप में की जाती थी। तब के भारतीय मनीषियों के लिए किसी महापुरुष को मानव के रूप में अभिव्यक्त करने की कल्पना भी असंभव थी। इसी वैदिक परंपरा के अनुरूप बौद्धों ने भी बुद्ध को मानव रूप में अभिव्यक्त करने की प्रवृत्ति से परहेज किया।

उस समय के बौद्धों (और जैनियों) में जो कला रूप देखने को मिलते हैं उनसे भी वैदिक परंपरा के अनुरूप कला-व्यवहार के प्रमाण प्राप्त होते हैं। भारतीय यूनानी कहलाने वाले उन यूनानियों ने, जो सिकंदर के आक्रमण के साथ ही गंधार क्षेत्र (वर्तमान पाकिस्तान में उत्तर-पश्चिमी सीमांत प्रांत और अफगानिस्तान के कुछ भाग) मेंही बस गए थे और वहां अपना शासन स्थापित किया था, अतीत से अलग हटने की प्रेरणा दी और गंधार में बस चुके यूनानी मूल के कलाकारों को बुद्ध

को मानवरूप में अभिव्यक्त करने में कोई हिचकिचाहट न हुई। असल में यूनानियों को अपने देवताओं को मानवरूपी मूर्तियों में ढालने में आनंद प्राप्त होता था और ऐसा करते हुए उन्होंने कालजयी कलाकृतियों की रचना की थी। अत: इन भारतीय-यूनानियों ने बौद्ध-धर्म अपनाया तो अपने पूर्वजों की परंपरा के अनुसार अपने देवता को पत्थर में तराशने में उन्हें कोई हिचकिचाहट न हुई। इस तरह से यूनानी सौंदर्यशास्त्र और बौद्ध धार्मिकता का सम्मिलन हुआ और गंधार की बुद्ध प्रतिमाओं की रचना हुई।

इस बात को लेकर विद्वानों में तीव्र मतभेद है कि एक तरफ गंधार और दूसरी तरफ मथुरा में बुद्ध की प्रतिमाओं का निर्माण सबसे पहले किस स्थान पर हुआ? यह मात्र एक बौद्धिक बहस नहीं है अपितु इस दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है कि बुद्ध की प्रतिमा का उद्भव कहां से हुआ। इस तथ्य को स्थापित करने के पर्याप्त पुरात्त्विक, पुरालेखिक और मुद्राशास्त्रीय प्रमाण हैं कि कालक्रम में गंधार के बुद्ध की प्रतिमा का निर्माण मथुरा के बुद्ध की प्रतिमा से पहले हुआ है। इससे इस मत को बल मिलता है कि बुद्ध की प्रतिमा की रचना के पीछे भारतीय-यूनानी प्रेरणा काम कर रही थी।

ध्यान से देखा जाए तो ऐसा माना जाता है बुद्ध की प्रतिमा के रचयिताओं की विचारधारा का प्रभाव उस स्थान पर रहा होगा जहां से इस प्रतिमा का उद्भव हुआ होगा। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, अब तक विद्वानों का यह मत रहा था कि हीनयानी लोग, जिन पर बौद्धमत के विकास की आरंभिक अवस्था में भिक्षुओं का वर्चस्व रहा था, मानवरूपी प्रतिमाओं में बुद्ध को ढालने के कर्म को धर्मविरोधी मानते थे, बौद्धधर्म के विधान की अवहेलना मानते थे। एक और अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि मानवरूपी प्रतिमाओं में बुद्ध को ढालने की कला महायानियों की देन थी। अत: बौद्ध कला की गंधार शाखा को हीनयान से ही जोड़ा जाता है। परंतु ठोस पुरालेखिक प्रमाणों, चीनी यात्रियों के विवरणों, और गंधार कला की अंतर्वस्तु की पड़ताल से यही पता चलता है कि गंधार के बौद्ध महायान के नहीं अपितु हीनयान की सर्वास्तिवादी संप्रदाय के अनुयायी थे।

मध्य एशिया, पूर्वी और पश्चिमी तुर्किस्तान की आरंभिक बौद्धकला की अंतर्वस्तु की

इस तथ्य को स्थापित करने के पर्याप्त पुरात्त्विक, पुरालेखिक और मुद्राशास्त्रीय प्रमाण हैं कि कालक्रम में गंधार के बुद्ध की प्रतिमा का निर्माण मथुरा के बुद्ध की प्रतिमा से पहले हुआ है

पड़ताल से पता चलता है कि मध्य एशिया की आरंभिक बौद्ध कला गंधार की बौद्ध कला का ही विस्तार थी और अपने चरित्र में हीनयानी थी। अत: पुस्तक के पहले पांच अध्याय इस बात को स्थापित करते हैं कि आरंभिक बौद्ध कला का उद्भव परंपरागत बौद्ध विचारधारा से नहीं अपितु वैदिक विचारपद्धति से हुआ और बुद्ध की पहली प्रतिमाएं गंधार में ही मिलती हैं। इन अध्यायों में यह तथ्य भी रेखांकित होता है कि गंधार और आरंभिक मध्य एशियाई बस्तियों में बौद्धमत की हीनयान शाखा के सर्वास्तिवादी संप्रदाय का ही बोलबाला था। इसके साथ ही यह बात भी स्पष्ट होती है कि मानवरूप में बुद्ध की प्रतिमाएं मानवरूप में बनाने का श्रेय भारतीय-यूनानियों को जाता है जो हीनयान शाखा के अनुयायी थे।

अंतिम दो अध्यायों में बुद्ध की प्रतिमाओं की दो महत्वपूर्ण विशेषताओं पर विचार किया गया है-बुद्ध के सर के बाल और उष्णीष तथा बुद्ध की ऐसी मूर्तियां जिनके सर पर मुकुट हैं और रत्न जड़े हुए हैं।

बुद्ध की मूर्तियों में सामान्यत: छोटे घुंघराले बाल मिलते हैं और सर के ऊपर एक उभार होता है। ये 32 महापुरुष लक्षणों के अंतर्गत आते हैं। किसी महापुरुष, बुद्ध, आध्यात्मिकता की पराकाष्ठा पर पहुंच चुके चक्रवर्ती, ब्रह्मांडीय चेतना के प्रतिरूप देवता के ये लक्षण होते हैं। परंतु, तत्कालीन साहित्य से प्रमाणित होता है कि जिस तरह से गंधार और मथुरा से मिली बुद्ध-प्रतिमाओं में केशों को दर्शाया गया है, जैन कला-परंपरा में तीर्थंकरों के सरों पर केशों और उष्णीषों को प्रदर्शित किया गया है, वह गंधार और मथुरा की मूर्तिकला में मूलत: ब्रह्मा के केशों का अनुकरण करके किया गया था। उष्णीष कपाल में मात्र एक उभार नहीं अपितु आध्यात्मिक प्रभुत्व का प्रतीक था जिसका मूल वैदिक परंपरा में देखा जा सकता है। "बुद्ध को एक चक्रवर्ती के आध्यात्मिक या दिव्य समकक्ष के रूप में माना गया...जैसे एक चक्रवर्ती के पास लौकिक प्रभुत्व की शक्ति होती है, उसी प्रकार उष्णीषधारी बुद्ध आध्यात्मिक प्रभुत्व का प्रधिनिधित्व करते हैं।" इस निष्कर्ष तक पहुंचने के लिए इस पुस्तक में पहली बार जैन प्रतिमाशास्त्र के महत्वपूर्ण प्रमाणों का इस्तेमाल किया गया है। इसके अतिरिक्त बुद्ध का उष्णीष इस बात का महत्वपूर्ण प्रमाण है कि बौद्ध प्रतिमाओं पर वैदिक ब्रह्म की छवि का प्रभाव है।

बुद्ध को राजसी वेशभूषा में प्रदर्शित करना, उन्हें मुकुट और रत्नों के साथ प्रदर्शित करना बौद्ध प्रतिमाशास्त्र का दूसरा महत्वपूर्ण लक्षण है। प्रथमदृष्टया ये प्रतिमाएं स्थापित धार्मिकता से विचलन को दर्शाती हैं और उस बौद्ध विचारधारा के विपरीत हैं जिसके अनुसार बुद्ध ने अपनी राजसी वेशभूषा और आभूषणों का परित्याग कर दिया था। यहां विद्वानों ने एक सरलीकृत व्याख्या की है-पूर्वी भारत में प्राप्त मुकुटधारी और रत्नों से सुसज्जित बुद्ध का उद्भव बौद्ध धर्म के महायान संप्रदाय की विचारधारा से हुआ है। परंतु राजसी वेशभूषा वाली बुद्ध प्रतिमाएं कंबोडिया, सियाम, लाओस और बर्मा में भी मिलती हैं जहां के बौद्ध हीनयान संप्रदाय की अत्यंत रूढ़िवादी शाखा थेरवाद के अनुयायी हैं। श्वेतांबर संप्रदाय की जैनकला की परंपरा तीर्थंकरों को रत्नों और आभूषणों से सुसज्जित रूप में अभिव्यक्त करती है जबकि जैन धर्म अपनी प्रवृत्ति में आडंबर का कट्टर विरोधी है और जैन धर्म की दूसरी महान शाखा जो दिगंबर कहलाती है तीर्थंकरों को बिल्कुल नग्न रूप में दर्शाती है। निष्कर्ष यह निकलता है कि बुद्ध की मुकुटधारी और रत्नों से सुसज्जित प्रतिमाएं बौद्ध धर्म के किसी विशिष्ट संप्रदाय से संबंध नहीं रखतीं। मुकुट और आभूषण बुद्ध के सर्वोच्च आध्यात्मिक अस्तित्व को अभिव्यक्त करने के लिए प्रयोग में लाए गए हैं।

अत: बुद्ध प्रतिमाओं के उद्भव और उनके कुछ आधारभूत लक्षणों का अन्वेषण करने के साथ ही यह पुस्तक आरंभिक अमूर्त बौद्ध के वैदिक स्रोतों और बुद्ध प्रतिमाओं पर वैदिक ब्रह्म के प्रभाव को भी सामने लाती है। ■

('द बुद्धा इमेज, इट्स ओरिजिन एंड डेवलपमेंट' पुस्तक से साभार)

सोनाली मिश्रा

भारतीय साहित्य में गंधार

गंधार हमेशा से भारत की सामूहिक चेतना का अखंड भाग रहा है। इसीलिए यह हर काल के भारतीय साहित्य में किसी न किसी रूप में प्रकट होता है। एक आलोचनात्मक अध्ययन

हवा का एक झोंका कश्मीर से आता है और कन्याकुमारी तक भारत को एक डोर में बाँध जाता है। ऐसे ही सुदूर पूर्वोत्तर के क्षेत्र भी भारत के साथ हवाओं के झोंको से जुड़ जाते हैं। और आपस में कई कहानियों का अंश बन जाते हैं, एक कहानी कश्मीर से आरम्भ होते हुए भारत के चरणों पर आकर पूर्ण स्वरूप प्राप्त करती है। परन्तु, क्या भारत मात्र कश्मीर से कन्याकुमारी तक और राजस्थान से पूर्वोत्तर तक ही है, या भारत इससे कहीं आगे है? क्या जो आज भारत के भौगोलिक भूभाग से परे है वह भारत का हिस्सा नहीं? अथवा साहित्य कुछ और कहता है? आज का भारत वर्ष 1947 के उपरान्त अस्तित्व में आया, उससे पूर्व का भारत सीमारहित भारत था! जिस भारत की सीमा में गंधार से लेकर ईरान तक थीं। जिसकी परिधि में सीरिया तक था! इतिहास से परे साहित्य की यदि बात करें तो आज भी भारत की कथाएँ उन क्षेत्रों का हिस्सा हैं, जो भारत की भौगोलिक सीमा से परे हैं। यह कथाएँ गांधारी की हैं, गंधार की हवाओं से आती हुई कथाएँ हैं, जो बार बार यह बोध कराती हैं कि भारत गंधार तक है।

गंधार अर्थात वर्तमान का कंधार, जो अफगानिस्तान में है। कभी वह भारत का हिस्सा हुआ करता था। उसमें भी सनातन धर्म के मंदिर हुआ करते थे, उसकी राजधानी रहा तक्षशिला संपूर्ण विश्व के लिए ज्ञान का केंद्र था। पुरुषपुर, कम्बोज आदि उसके पड़ोसी राज्य थे। गंधार, जहां पर महाभारत के ऐसे पात्र का जन्म हुआ, जिसके बिना यह महाकथा पूर्ण हो ही नहीं सकती थी। वह पात्र जिस पर आज तक हिंदी साहित्य लिख रहा है, वह उसके जीवन की कथाओं में अंतर्कथाएं खोज रहा है।

गंधार, जिसका वर्णन सबसे पहले ऋग्वेद में प्राप्त होता है, उसमें गंधार में रहने वाले नागरिकों के विषय में कहा गया है कि भारत के उत्तर पश्चिम में गांधारी जन! अपनी पुस्तक भारतीय संस्कृति और हिंदी प्रदेश में रामविलास शर्मा ने गंधार के विषय में लिखा है कि गंधार महाजनपद कुनड या काश्कर नदी से तक्षशिला तक फैला हुआ था। गंधार की राजधानी पुष्कलावती थी, जहां स्वात और काबुल नदी के संगम पर वर्तमान चारसद्दा है।

भारतीय साहित्य में भी भारत के गंधार देश का उल्लेख रामायण काल से ही प्राप्त होता है। वाल्मीकि रामायण के उत्तरकांड में गंधार देश को एक ऐसे देश के रूप में वर्णित किया गया है, जो हर प्रकार की प्राकृतिक संपदा से परिपूर्ण है और वहां गंधर्वों का राज्य है। वह लिखते हैं:

युधाजित्प्रीतिसंयुक्तं श्रूयतां यदि रोचते।
अयं गंधर्वविषयः फलमूलोपशोभितः।।[1]

इसके आगे वह लिखते हैं कि यह गंधर्व देश सिन्धु नदी के किनारे बसा हुआ है।

सिन्धोरूभयतः पार्श्वे देशः परशोभमनः।
तं च रक्षन्ति गन्धर्वाः सायुधा युद्धकोविदाः।।[2]

राम अपने मामा का यह आदेश पाकर प्रसन्न होते हैं, तथा भरत को गंधर्व देश को मुक्त करा गंधर्वों को हरा कर उसे दो भागों में विभाजित करने के लिए कहते हैं। भरत राजा राम की आज्ञा को शिरोधार्य कर गंधर्व देश पर आक्रमण कर पराजित करते हैं तथा दो नगरों की स्थापना करते हैं, तथा अपने पुत्रों तक्ष एवं पुष्कल के नाम पर तक्षशिला एवं पुष्कलावत नाम रखते हैं। तथा यह दोनों ही प्रांत धन, धान्य एवं मानव मूल्यों से परिपूर्ण थे।

तक्षं तक्षशिलायां तु पुष्कल पुष्कलावते।
गंधर्वदेशे रुचिरे गान्धार विषये च सः।।[3]

वाल्मीकि रामायण में इन दोनों नगरों के विषय में अत्यंत ही आकर्षक वृतांत प्रस्तुत किया गया है। दोनों ही नगरों में भव्य मंदिरों का वर्णन किया गया है।

रामायण काल से आगे बढ़कर जब महाभारत काल में आते हैं, तब गंधार एक पूर्ण पहचान के साथ आता है, जब भीष्म गंधार की राजकुमारी शुभा को बलात अंधे धृतराष्ट्र की पत्नी बनाते हैं और शुभा जो पुरुषपुर के राजकुमार से प्रेम करती थी, वह शुभा नाम त्यागकर गांधारी नाम धारण करती है। भारत के मैदानी क्षेत्र हस्तिनापुर का राजकुमार भीष्म सुदूर पश्चिमी क्षेत्र की राजकुमारी को इसलिए बलात ले आते हैं क्योंकि उसके पास भगवान शिव से सौ पुत्र पाने का वरदान प्राप्त है। इस प्रसंग को महाभारत के साथ अन्य कई रचनाओं में भी इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है कि पाठक शुभा से गांधारी की पीड़ा को आत्मसात कर लेता है।

इस सन्दर्भ में मनु शर्मा द्वारा रचित 'गांधारी की आत्मकथा' का नाम मुख्य रूप से लिया जा सकता है। मनु शर्मा ने अपने उपन्यास में गंधार की तत्कालीन संस्कृति को उसके मूल रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। उस क्षेत्र में शिवोपासना का बहुत महत्व है, तथा यह अभी तक कश्मीर में भी देखा गया है कि शिव ही उनके आराध्य हैं। शिवरात्रि पर उत्सव मनाने की परंपरा को मनु शर्मा ने गांधारी की आत्मकथा में निम्न शब्दों में व्यक्त किया है

"आज शिवरात्रि है। प्रकृति अपनी पूरी मादकता लेकर आ गई। इस समय तक जाड़ा ठंडा पड़ जाता है। वृक्ष भी पुराने वस्त्र उतारकर नई हरीतिमा धारण कर लेते हैं।

हम हलके पीले वस्त्र पहनकर इस मादकता का स्वागत करते है।"

इसके बाद वह मदनोत्सव का उल्लेख भी करते हैं। गंधार की संस्कृति में जीवन का हर क्षण उत्सव है। वह आगे लिखते हैं कि

"हमारे यहाँ बसंत पंचमी के दिन भी एक मदनोत्सव होता है।"[4]

मनु शर्मा ने उस समय के गंधार के मौसम की प्रवृत्ति को भी अपने उपन्यास में व्यक्त करने का प्रयास किया है! बसंत में मदनोत्सव के उपरान्त बादल छा गए थे और शुभा अर्थात गांधारी का जी घबराने लगा था। उस समय गांधारी के चित्त और मौसम दोनों का वर्णन करते हुए मनु शर्मा लिखते हैं

"उसी समय अचानक मेघ छा गए थे। गंभीर कडकडाहट और गडगडाहट के साथ बादलों ने अग्निबाण बरसाने आरम्भ कर दिए। यह बेमौसम की वर्षा कैसी? गंधार में बसंत में वर्षा तो नहीं होती।"[5]

गंधार में उस समय मौसम अलग होता था और अब गंधार का मौसम एकदम बदल चुका है। क्या यह जलवायु परिवर्तन दो संस्कृतियों के टकराव का परिणाम है? या एक ऐसी सभ्यता के वर्चस्व का परिणाम है जो अपने मजहबी कट्टरता के लिए कुख्यात है। 'नोट्स ऑन द एंशिएंट ज्याॅग्रफी ऑफ गंधार' में ए फाउचर कुछ इसी तरफ संकेत करते हैं। वह गंधार की अपनी यात्रा को चीनी यात्री ह्वेनसांग के साथ आरम्भ करते हैं, तथा गंधार को पाणिनि का जन्मस्थान स्वीकार करते हैं। वह बौद्ध धर्म के प्रभाव को इस क्षेत्र में मुख्य मानते हैं। गंधार में जलवायु परिवर्तन के लिए वह एक जिज्ञासा उत्पन्न करते हैं कि क्या मौसम में बदलाव इस क्षेत्र में मुसलमानों के आगमन के साथ आया क्योंकि आग जलाने वाले मुसलमान अपनी जियारत को बचाना चाहते हैं, और उन्होंने उन वृक्षों को काटना आरम्भ किया, जिनकी पूजा हिन्दू किया करते थे और ईंधन के लिए वह गाय के गोबर के कंडे प्रयोग किया करते थे।[6]

गंधार का वर्णन गांधारी नामक उपन्यास में सुशील कुमार करते हैं। वह तत्कालीन गंधार की राजधानी तक्षशिला को तक्षक नाग के नाम पर स्थापित हुआ बताते हैं। वह कुछ आधुनिक विद्वानों का हवाला देते हुए कहते हैं कि संभवतया महाभारत काल तक तक्षशिला का अस्तित्व नहीं था। परंतु गंधार का अस्तित्व था तभी गांधारी थीं। वह अपने उपन्यास के आरंभ में ही गंधार का वर्णन करते हुए कहते हैं।

"सप्तसिंधु के उत्तर-पश्चिमी सीमांत पर स्थित गंधार जनपद उस युग का बड़ा ही ऐश्वर्यशाली और प्रभुता संपन्न राज्य था। वहां के राजा सुबल बहुत ही पराक्रमी योद्धा थे। वास्तव में वह युग ही ऐसा था, जब पराक्रम ही स्वतंत्रता और शक्ति का साधन तथा आधार था। राजा सुबल के सुशासन में गंधार राज्य बहुत फल-फूल रहा था, वह स्वतंत्र थे। किसी से शत्रुता नहीं थी। भय नहीं था।"

आगे इस उपन्यास में सुशील कुमार यह भी उल्लेख करते हैं कि उत्तर गंधार की राजधानी पुष्कलावती थी। और यह वही राज्य था जिसकी स्थापना भरत के पुत्र के नाम पर की गई थी।[7]

गांधारी की इस पीड़ा को दिखाते हुए कई नाटक भी लिखे गए हैं, जिनमें शंकर शेष द्वारा रचित 'कोमल गंधार' का नाम उल्लेखनीय है। इस नाटक के कई मंचन हो चुके हैं। इस नाटक में शंकर शेष ने गांधारी और दुर्योधन के मध्य हुए अंतिम संवाद को अत्यंत ही संवेदनशील रूप से प्रस्तुत किया है।

महाभारत के काल के उपरांत जब हम आधुनिक कालखंड में प्रवेश करते हैं, तो पाते हैं कि गंधार कई विदेशी आक्रमणकारियों का शिकार हुआ। गांधारी जैसी एक और घटना है जिसने गंधार को इतिहास और साहित्य में समान रूप से स्थान प्रदान किया। यह घटना थी हूण आक्रमणकारी मिहिरकुल द्वारा गंधार से होते हुए भारत पर आक्रमण करना, तथा मालवा के शासक यशोधर्मन द्वारा उसे पराजित करना! इस संबंध में विष्णु प्रभाकर का एक नाटक है गंधार की भिक्षुणी। इतिहास में तो यह विजयगाथा हूण आक्रांता मिहिरकुल के भारत आक्रमण और यशोधर्मन अर्थात जनेन्द्र के मध्य युद्ध में सिमटी है, परंतु नाटक के रूप में यह एक प्रखर राजनीतिक चेतना का नाटक है। इस नाटक में यशोधर्मन राष्ट्रीय चेतना का प्रतीक है।

यह घटनाक्रम सन 528 ईस्वी के लगभग का है। जब अत्यंत क्रूर हूण शासक मिहिरकुल ने बौद्धों का दमन करना आरंभ किया। मालवा का शासक यशोधर्मन उसे रोकने का प्रण लेता है तथा इस चेतना को जागृत करने का कार्य करती है मिहिरकुल की पुत्री आनंदी तथा हूणों के बागी सेनापति की पुत्री मारुत की पुत्री मालवी। मिहिरकुल की पुत्री आनंदी को ही गंधार की भिक्षुणी कहा गया है। वह अपने पिता से विद्रोह करती है तथा मालवा के शासक यशोधर्मन के साथ मिलकर अपने देश अर्थात भारत के प्रति देशभक्ति और समर्पण की ज्वाला आम लोगों में प्रज्ज्वलित करती है।

इसी पृष्ठभूमि पर एक और उपन्यास रामेश्वर अशांत द्वारा 'यशोधर्मन' लिखा गया है। इस उपन्यास में मिहिरकुल की नृशंसता का वर्णन रामेश्वर अशांत ने किया है। उन्होंने तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों पर भी प्रकाश डाला है, कि किस प्रकार युद्ध की

विभीषिका से भयभीत होकर आमजन शांति चाहता था! परंतु हूणों को यह स्वीकार्य नहीं था। हूणराज तोरमाण का पुत्र एक बार पुनः भारत को रक्त से लाल करने की इच्छा लेकर भारत आया और उसने भारत में हत्याओं का सिलसिला आरंभ किया। इस भीषण रक्तपात के साथ यशोधर्मन द्वारा किए गए प्रतिकार को इस उपन्यास में दिखाया गया है।

कविता की ओर यदि दृष्टि डालते हैं तो पाते हैं कि गांधारी पर कई कविताएँ लिखी गई हैं। तथा जयशंकर प्रसाद की कविता कामायनी में गंधार देश का इस प्रकार वर्णन किया गया है:

मसृण, गंधार देश के नील रोम वाले मेषों के चर्म,
ढक रहे थे उसका वपु कांत बन रहा था वह कोमल वर्म।
नील परिधान बीच सुकुमार खुल रहा मृदुल अधखुला अंग,
खिला हो ज्यों बिजली का फूल मेघवन बीच गुलाबी रंग।[8]

गांधारी पर लिखी गई सबसे लोकप्रिय कविता धर्मवीर भारती द्वारा लिखी अंधायुग है। यह काव्य नाटिका गांधारी द्वारा कृष्ण को दिए गए श्राप को अत्यंत ही प्रभावशाली तरीके से व्यक्त करती है। गांधारी कृष्ण से पूछती हैं कि वह तो यह सब विध्वंस रोक सकते थे तो रोका क्यों नहीं? वह कृष्ण को गंधार से लेकर हस्तिनापुर तक के विध्वंस का दोषी ठहराती हैं, तथा दुर्योधन के अस्थिपंजर को देखकर अपनी व्यथा को नियंत्रण में रखने में अक्षम रखते हुए विलाप करती हैं।

मैं तपस्विनी गांधारी
अपने सारे जीवन के पुण्यों का
अपने सारे पिछले जन्मों के पुण्यों का
बल लेकर कहती हूँ
कृष्ण सुनो!
तुम यदि चाहते तो रुक सकता था युद्ध यह
मैंने प्रसव नहीं किया था कंकाल यह
इंगित पर तुम्हारे ही भीम ने अधर्म किया
क्यों नहीं तुमने वह शाप दिया भीम को
जो तुमने दिया अश्वत्थामा को
तुमने किया है प्रभुता का दुरूपयोग
यदि मेरी सेवा में बल है
संचित तप में धर्म हैं
प्रभु हो या परात्पर हो
कुछ भी हो
सारा तुम्हारा वंश
इसी तरह पागल कुत्तों की तरह
एक-दूसरे को परस्पर फाड़ खायेगा
तुम खुद उनका विनाश करके कई वर्षों बाद
किसी घने जंगल में
साधारण व्याध के हाथों मारे जाओगे
प्रभु हो
पर मारे जाओगे पशुओं की तरह।[9]

कालान्तर में गांधारी को रूपक के रूप में भी कुछ कवियों ने प्रयोग किया जिनमें गांधारी को ऐसे रूपक में लिया गया जो सब कुछ जानते हुए भी आँखों पर पट्टी बाँध लेता है। जैसा रामेश्वर दयाल श्रीमाली की कविता 'गान्धारी है मेरा युग' में परिलक्षित होता है जब वह लिखते हैं:

गांधारी है मेरा युग
आंखों पर बांधकर पट्टी
पालता है- सत!

है सुंदर समागम -
सत के साथ
आंखों की पट्टी का!

कितना सुंदर है-
गांधारी का यह सत
जो निभ जाता है
बांध कर आंखों पर पट्टी।[10]

वहीं अज्ञेय ने गांधारी द्वारा अंधेपन को स्वीकार करने के प्रति अपने अलग विचार व्यक्त किये हैं। उनके अनुसार गांधारी ने निरंतर अपने प्रति अन्याय सहे जाने के अत्याचारों के प्रति उदासीन होने के लिए यह अंधापन चुन लिया था। वह लिखते हैं कि

आह! देख पाते वे-
मगर यही तो था उनका असली अन्धापन!-
गान्धारी ने लगातार उनके अन्याय सहे जाने से
अत्याचारों के प्रति उनके
उदासीन स्वीकार भाव के
लगातार साक्षी होने से
अच्छा समझा था अन्धे हो जाना।[11]

इस प्रकार हम देखते हैं कि रामायण काल से लेकर आधुनिक काल तक गंधार किसी न किसी माध्यम से हमारे साहित्य एवं जनचेतना का माध्यम बना हुआ है। फिर चाहे वह रामायण हो, महाभारत हो, गुप्त काल हो, यह स्थापित हुआ है कि गंधार अंततः भारत का ही एक हिस्सा है, जिसकी तरफ आज तक भारतीय साहित्यकार देख रहे हैं। हम भूमि के उस टुकड़े को जो अब हमसे पृथक हो गया है, जहां से हमारी संस्कृति के एक एक चिन्ह मिटा दिए गए, अभी भी अपनी कथाओं और स्मृतियों में जीवित रखे हुए हैं। गंधार हमारी धरोहर है। ■

संदर्भ संकेत

1. *वाल्मीकि रामायण उत्तरकाण्ड शततम सर्ग, 10*
2. *वाल्मीकि रामायण उत्तरकाण्ड शततम सर्ग, 11*
3. *वाल्मीकि रामायण उत्तरकाण्ड एकोत्तरशततम सर्ग*
4. *मनुशर्मा, गांधारी की आत्मकथा, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली पृष्ठ 60*
5. *शर्मा मनु, गांधारी की आत्मकथा, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली पृष्ठ 61*
6. *नोट्स ऑन द एंशीएंट ज्योग्राफी ऑफ गंधार, (अ कमेंट्री ऑन अ चौप्टर ऑफ ह्वेन सांग), ए फाउचर, अनुवाद एच हार्ग्रीव्स, एशियन एजुकेशनल सर्विसेस, नई दिल्ली 2005*
7. *कुमार सुशील, गांधारी, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली पृष्ठ 17*
8. *प्रसाद जयशंकर, कामायनी, श्रद्धा सर्ग, भारत भारती भंडार, इलाहाबाद, पृष्ठ 46*
9. *http://www.hindisamay.com/e-content/Dharmveer-Bharati-Andhayug.pdf Dharmveer & Bharati & Andhayug-pdf*
10. *http://kavitakosh.org/kk/* गांधरी_है_मेरा_युग_/_रामेश्वर_दयाल_श्रीमाली
11. *http://kavitakosh.org/kk/*/ गांधारी_/_अज्ञेय

इष्ट देव सांकृत्यायन

गंधार: सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन

राहुल सांकृत्यायन का दृष्टिकोण

भारत के अत्यंत महत्वपूर्ण रचनाकारों में एक महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने लगभग पूरी दुनिया की घुमक्कड़ी की थी और साथ ही विभिन्न क्षेत्रों के बारे में विभिन्न स्रोतों से जानकारियां भी जुटाई थीं। गंधार विषयक उनका दृष्टिकोण अनूठा और रोचक है

भारतीय बहुविद्याविद महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने इतिहास का मात्र अध्ययन ही नहीं किया, बल्कि इसे स्वयं में अनुभव भी किया। अपने मूल रूप में वह एक निर्भीक घुमक्कड़ थे, जिन्होंने पूरे विश्व की यात्रा की और अपनी यात्रा के दौरान हमेशा ही इतिहास, भूगोल, साहित्य और संस्कृति को समझने का प्रयास किया, अर्थात संक्षेप में हर क्षेत्र के जनजीवन को समग्रता में समझने का प्रयास किया। राहुलजी में स्थानीय जनता के साथ सीधे जुड़ जाने और उनकी ही गाथाओं को सीधे उनसे ही सुनने-समझने का जन्मजात कौशल था। इनमें, उनके दु:ख और आनंद, जय और पराजय, क्षुद्रताएं और महानताएं सब कुछ बहुत ही बारीकी से बुनी गई होती हैं। इस बुनावट में थोड़ी अतिशयोक्ति भी होती है और थोड़ा संकोच भी। इस अतिशयोक्ति और संकोच की गहराई से परख के लिए व्यक्ति को पर्याप्त तर्कबुद्धि की आवश्यकता होती है। राहुलजी के पास यह तर्कशक्ति उनकी अदम्य अध्येतावृत्ति और वैज्ञानिक दृष्टिकोण के कारण थी। यही कारण है कि इतिहास पर लिखे गए उनकी इतिहास संबंधी कृतियां पाठक को किसी देश और काल में घुमक्कड़ी जैसी अनुभूति देती हैं।

राहुलजी की ऐसी ही कृतियों में से एक है 'मध्य एसिया का इतिहास'। यह एशिया के संपूर्ण मध्य भाग के इतिहास का वर्णन पृथ्वी के आरम्भ से अर्थात अंध युग से लेकर आधुनिक समय तक का करता है। हालांकि इस निबंध का अभीष्ट न तो संपूर्ण मध्य एशिया है और न ही अंध या पुरापाषाण युगों का वर्णन। मैं मात्र उन सांस्कृतिक और सामाजिक परिवर्तनों को इंगित करना चाहता हूँ, जिनसे होकर प्राचीन भारत और मुख्यत: सोलह महाजनपदों में से एक महाजनपद गंधार गुजरा है। उनकी महत्वपूर्ण कृतियों में से एक 'बौद्ध संस्कृति' भी है, हालांकि इसमें एक ही अध्याय है अफगानिस्तान, और इसमें मात्र बौद्ध दृष्टिकोण के माध्यम से ही चर्चा की गई है। 'मध्य एसिया का इतिहास' में, हम बृहद रूप से देखते हैं कि अंध युग के उपरांत, वह मुख्य रूप से विभिन्न राजवंशों और उनके मध्य लड़े गए युद्धों के विषय में ही वर्णन करते हैं, परंतु जब हम इसकी गहराई में जाते हैं, तो हमें पर्याप्त रूप से वह सामग्री भी प्राप्त होती है, जो उन सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तनों को परिलक्षित करती है जो उस समय उन क्षेत्रों में हुए थे।

जहां यह सत्य है कि उस समय नागरिकों का एक से दूसरे क्षेत्रों में आना-जाना आम बात थी, सत्ताओं के साथ राज्यों की सीमाएं भी परिवर्तित हो रही थीं और संस्कृति भी कई परिवर्तनों से होकर गुजर रही थी, परंतु भूमि और उसके प्रति लोगों की भावनाएं हमेशा ही इस धरती के आरंभ से वर्तमान स्वरुप तक जस की तस रही है। यहाँ तक कि आज भी, यानी बामियान की विराट बुद्ध प्रतिमाओं के ध्वंस के बाद भी, आम लोग भारतभूमि के साथ अपनी सामाजिक और सांस्कृतिक एकता के साथ ही सभी मतों, संस्कृतियों एवं विश्वासों के प्रति सहिष्णुता और सम्मान के गीत गाते हैं। स्थानों के नाम कई बार बदले गए हैं। जो क्षेत्र एक समय में गंधार के रूप में जाना जाता है, गंधार की राजधानी रहा पुष्कलावती आज के पाकिस्तान के शहर के पास अवशेष के रूप में पाया जाता है। चारसद्दा और पुरुषपुर (गंधार की राजधानी) को अब पेशावर कहते हैं और तक्षशिला आज के पाकिस्तान के पंजाब प्रांत में है, जो इस्लामाबाद और रावलपिंडी से लगभग 32 किलोमीटर उत्तर पश्चिम में है। पुराने समय के कपिशा को अब काबुल के रूप में जाना जाता है, जो अफगानिस्तान की राजधानी है। इस प्रकार गंधार एक समय रावलपिंडी से

हिंदुकुश तक फैला हुआ था।[1] यह सभी गंधार के ही भाग थे, जिसका वर्णन ऋग्वेद से लेकर संस्कृत की रामायण और महाभारत जैसी कालजयी कृतियों और कई अन्य प्राचीन ग्रंथों में भी किया गया है। इस पूरी अवधि के दौरान यह भारतीय संस्कृति का ही हिस्सा था।

मुद्राओं के माध्यम से परिलक्षित परिवर्तन

चूंकि सांस्कृतिक सीमाएं कभी भी राजनीतिक सीमाओं की तरह स्पष्ट रूप से निर्धारित नहीं रही हैं, इसलिए गंधार की संस्कृति पहलव (अब ईरान का हिस्सा) और तुषार या बैक्ट्रिया (अब पश्चिमी अफगानिस्तान) को भी प्रभावित करती रही है। कुषाण जिन्होंने एक समय में उत्तर भारत में सबसे बड़ा साम्राज्य स्थापित किया था, वह तुषारदेश से थे, जो बाद में तोखारिस्तान बना और अब जो अफगानिस्तान के पश्चिमी भाग के रूप में जाना जाता है। भारतीय संस्कृति और हिंदू धर्म के प्रभाव का वर्णन विम कदफिस, जिसने 50 से 70 ईस्वी तक शासन किया, पर करते हुए राहुल सांकृत्यायन लिखते हैं "सिक्के की दूसरी ओर नदी के साथ त्रिशूलधारी शिव की मूर्ति के पास खरोष्ठी लिपि में लिखा रहता है 'ईश्वरस महीश्वरस विम कदफिस'। 'ईश्वर महीश्वर' ग्रीक 'बसिलेउस वेसिलियोन' (राजाओं का राजा) का अनुवाद मालूम होता है। कुषाणों को बौद्ध या शैव आदि धर्मों के साथ संबद्ध देखकर उन्हें भारत में आकर हिंदू संस्कृति और धर्म को ग्रहण करने वाला समझने की गलती इसी कारण की जाती है, कि हम नहीं जानते कि उनका मूल स्थान (तुषार देश, तरिम उपत्यका) इससे पहिले ही से ही धर्म और संस्कृति में हिंदू था।"[2]

दिमित्रि (डेमेट्रियस) के विषय में बात करते हुए, जिसने189-167 ई.पू. तक शासन किया, राहुल सांकृत्यायन उसके समकालीन वैयाकरण पतंजलि, के विषय में लिखते है (अरुणद यवन साकेत) (यवनों ने अयोध्या को घेर लिया) और यह मत व्यक्त करते हैं कि पतंजलि ने दिमित्रि की ओर ही इशारा किया है।[3] बाख्त्रिया के ग्रीक शासकों का भारत से घनिष्ठ संबंध था। सेल्युक (1) (323-281 ई.पू.) चंद्रगुप्त को अपनी पुत्री देकर जो संबंध स्थापित किया था, उसे उसके वंशजों ने भी कायम रखा।[4] दिमित्रि ने भारत के प्राचीन वर्गाकार सिक्कों की ही नकल करते हुए अपने सिक्के जारी किए थे, जिसमें उसने यूनानी लिपि और भाषा को पूरी तरह से हटाते हुए इसके स्थान पर भारत की ब्राह्मी लिपि और पालि भाषा का प्रयोग किया था। वह एकमात्र यूनानी शासक था, जिसने अपने सिक्कों का पूरी तरह भारतीयकरण किया। अपने चौकोर सिक्कों पर उसने एक तरफ पर्वत खुदवाया और दूसरी तरफ एक पाषाण बधनी के बीच में खड़ा एक पेड़ है, जो संभवत: बोधिवृक्ष का संकेत है। साथ ही उसने अपने सिक्के पर 'दिकइयोस' (धार्मिक) लिखा है। 'धम्मिको धम्मराजा' पालि में एक प्राचीन प्रशंसावाचक शब्द है। कपिशा (पारोपमिसदै) उस वक्त बौद्ध प्रधान देश था।[5]

तेत्रादाख्म चाँदी के सिक्कों में भी दिमित्रि की अर्धदेह की छवि अंकित है। दिमित्रि को इसमें गजमुख मुकुट धारण किए गंभीर आकृति में दिखाया गया है। उसके शासनकाल में जारी हुए तांबे के सिक्कों पर हाथी के सिर को भारत के प्रतीक के रूप में दर्शाया गया है। राहुल जी लिखते हैं, "यह उल्लेखनीय बात है, कि यद्यपि ग्रीक राजाओं का शासन ईरान, बबेरू और मिस्र में रहा, किंतु उन्होंने कहीं भी स्थानीय लिपि और भाषा का प्रयोग अपने सिक्कों पर नहीं किया। भारत का संपर्क होते ही मुद्रा-नीति में यह परिवर्तन विशेष महत्व रखता है। दिमित्रि (2) ने अपने पिता दिमित्रि (1) के सिक्कों पर ग्रीक अभिलेख के साथ खरोष्ठी लिपि में पाली भी लिखवाया।"[6]

सामाजिक परिवर्तन

दिमित्रि द्वितीय को अपनी मातृभूमि बैक्ट्रिया पर सेल्यूकीय जनरल एउक्रतिद (यूक्रेटिडस) के आक्रमण के कारण उसे भारत छोड़कर बाख्त्रिया की ओर भागना पड़ा था। 189 ई. पू. में, एंटीओकस और रोम के बीच एक युद्ध हुआ और इसमें रोम विजयी हुआ तथा क्षुद्र एशिया के शासकों को रोमन साम्राज्य का करद होना पड़ा। जबकि दूसरी ओर एउक्रतिद प्रथम ने 167 ई.पू. तक हिंदुकुश के पश्चिम में स्थित देशों को जीत लिया। उसने सीस्तान, अराकोसिया (बलूचिस्तान), हेरात, बैक्ट्रिया, और सोग्दा पर अधिकार कर लिया। यही वह समय था जब उसने भारत का रुख किया। जिसका दिमित्रि द्वितीय सामना नहीं कर सका और उसे एउक्रतिद के आक्रमण का सामना करने के लिए अपनी मातृभूमि बैक्ट्रिया की तरफ भागना पड़ा। दिमित्रि द्वितीय ने अपने सेनापति मेनांदर से भी साथ आने के लिए कहा, परंतु वह नहीं आया। हालांकि दिमित्रि द्वितीय ने एउक्रतिद को एक स्थान पर पराजित भी किया, परंतु एउक्रतिद भागने में सफल रहा; अंत में दिमित्रि द्वितीय हिंदुकुश पर्वत के पास हुए एक युद्ध में पराजित हुआ। इन सभी घटनाओं का वर्णन करते हुए राहुल सांकृत्यायन आगे स्पष्ट करते हैं, "अलिक्सुंदर (सिकंदर) की तरह दिमित्रि ने भी ग्रीक और अग्रीक के भेद को अपने शासन और सेना से मिटाना चाहा थाथा। शायद इसी के कारण ग्रीक सैनिक उससे प्रसन्न नहीं थे।थे। उधर सेल्यूकीय राजा शुरू से ही ग्रीक रक्त के पक्षपाती थे।"[7]

इसमें कोई अचरज की बात नहीं है कि जिस भी राजा ने अपनी सरकार या सेना से भेदभाव को समाप्त करने का प्रयास किया है, वह अपने साम्राज्य को बनाए रखने में सफल नहीं हुआ है। दिमित्रि द्वितीय के उपरांत मेनांदर ने शासन किया। उसके उपरांत स्त्रातो प्रथम और स्त्रातो द्वितीय ने शासन किया। उसके समय में परिस्थितियों का वर्णन करते हुए राहुल जी लिखते हैं, "यह ग्रीक राजा भारतीय हो गए थे, और शकों से भी इनका वैवाहिक संबंध था।"[8]

बैक्ट्रिया में शासन प्रणाली वही थी जिसे सिकंदर ने छोटे-मोटे सुधार के साथ डैरियस प्रथम द्वारा स्थापित ईरानी शासन प्रणाली से लिया था। उन्होंने कई यूनानी पोलियों की स्थापना की, जिनमें बलख (बैक्ट्रिया) और पुष्कलावती (गंधार) मुख्य थे। सेल्यूकीय पोलियों में उन्होंने ग्रीक और गैर ग्रीक के मध्य अंतर बनाए रखा। यह ऐसा ही था जैसे अंग्रेजों द्वारा उनकी छावनियों में बनाए रखा गया अंतर। "दिमित्रि (1) जैसे राजाओं ने अनुभव किया, कि इस तरह का भेदभाव अच्छा नहीं है। उसके समय में पोलियों के भेदभाव में कुछ कमी अवश्य हुई। दिमित्रि ने अपने उच्च पदों के लिए भी स्थानीय लोगों को लिया था और उसने पार्थिवों (पहलवों) और शकों के लिए भी क्षत्रप बनने का रास्ता खोल दिया था। मौर्यों ने विदेशियों को अपना राज्यपाल तक बनाया था, जैसा कि सौराष्ट्र के मौर्य गवर्नर के उदाहरण से मालूम होता है। सौराष्ट्र, अवंती, मथुरा और तक्षशिला के शक (पल्लव) क्षत्रपों

की परंपरा का आरंभ ग्रीक राजाओं के समय में हुआ।"[9] यह हो सकता है कि स्थानीय नागरिकों द्वारा सामाजिक श्रेणी व्यवस्था को यूनानी पोलियों के प्रभाव के कारण अपना लिया गया हो, परन्तु उन्होंने स्थानीय लोगों को उनकी सामाजिक व्यवस्था या संस्कृति को अपनाने के लिए बाध्य नहीं किया। राहुल जी आगे कहते हैं, "संभव है, ग्रीक लोगों का भारतीकरण हमारे यहाँ जितनी तेजी से हुआ, उतना मध्य एसिया में न हुआ हो।"[10] नासिक और कार्ला गुफाओं के बारे में बात करते हुए वह कहते है "अपोलोदोत जैसे ग्रीक राजा ने अपने सिक्कों का इतना भारतीकरण किया कि उनसे ग्रीक लिपि और भाषा तक को हटा केवल भारतीय लिपि और भारतीय भाषा को ही रहने दिया। ई. पू. द्वितीय शताब्दी में भारतीय ग्रीक राजाओं ने भारतीय देवताओं को अपने सिक्कों में स्थान दिया। मिनांदर ने खुलकर भारतीय बौद्ध धर्म को अपनाया, दिमित्रि (1) (189-167 ई.पू.) से ही बहुत से ग्रीक राजाओं ने 'धार्मिक धर्मराजा' बनने का प्रयत्न किया...।"[11]

देवता और उनके प्रतीक

यह स्वाभाविक ही है कि यूनानी पूजा करने के लिए यहाँ अपने देवता ले आए, मगर उन्होंने कभी भी स्थानीय देवताओं के लिए अनादर का प्रदर्शन नहीं किया। उस समय के विभिन्न देवताओं का वर्णन करते हुए राहुलजी लिखते हैं, "मित्र के नाम से सूर्यदेव ग्रीक भक्तों को अपनी ओर ज्यादा खींचने में सफल हुए थे। कहा जाता है, ईसा की आरंभिक सदियों में मित्र-संप्रदाय ने ग्रीस देश पर इतना प्रभाव डाला था, कि वहाँ यह सवाल पैदा हो गया था कि ग्रीस और रोम का ध र्म मित्रवाद होगा, या ईसाइयत। मित्र जान पड़ता है शतम्-परिवार का एक जातीय देवता था। ईरानी-आर्य भी मित्र के नाम से सूर्य की पूजा करते थे। यद्यपि जर्थुस्त्र के सुधार ने अहुरमज्द को प्रथम स्थान दिया, लेकिन मिथ्र को वह पदच्युत नहीं कर पाया। भारतीय आर्य भी मित्र नाम से सूर्य की पूजा-प्रार्थना करते थे। वह ऋग्वेद के प्रधान देवताओं में हैं। आरंभिक समय में ईरानी या भारतीय आर्य मूर्ति बनाने की आवश्यकता न समझ प्रत्यक्ष सूर्य की ही पूजा करते थे; लेकिन पीछे सूर्य की मूर्तियाँ भी बनने लगीं।"[12] बैक्ट्रिया में मिथ्र (मित्र) और अनाहिता दूसरी और तीसरी शताब्दी ई.पू. में आमजन की श्रद्धा के केंद्र थे। "शकों ने जल्दी ही भारत के धर्म और संस्कृति को अपना लिया। एक दो शताब्दियों तक ही वेशभूषा, खानपान आदि में अपने पृथक अस्तित्व को कायम रखते पीछे भारतीय जनसमुद्र में इतना घुल-मिल गए, कि उनका पता लगना तक मुश्किल हो गया, किंतु अपनी सूर्य की मूर्तियों के रूप में उन्होंने भारत में अपना स्थायी चिन्ह छोड़ा। इनके सूर्य देवता द्विभुज और शकों की तरह ही घुटने तक बूट पहनते थे। वही बूट, जिसे आज भी रूसी लोग जाड़ों में पहनते हैं, और जिसे हम कनिष्क की मूर्ति में भी देख सकते हैं।"[13] भारतीय वैदिक देवताओं में से एक है घिषणा। हालांकि यह भारत में अधिक लोकप्रिय नहीं है, उन्हें बैक्ट्रिया के यूनानी शासकों ने अधिक प्रमुखता से स्थान दिया। संभवतया वह किसी प्राकृतिक शक्ति का प्रतिनिधित्व करती हैं, इसलिए हमें उनकी मूर्तियाँ अधिक नहीं मिलती। राहुल जी बताते हैं, "घिषणा देवी की विशाल तथा अर्धनग्न मूर्ति एक धातु के कटोरे पर मिली है। उसके दोनों तरफ दो पुरुष (अश्विनी कुमार द्वय) दिखलाए गए हैं।"[14]

कला और संस्कृति

बुद्ध की मूर्तियों का बनना भी गंधार कला से ही आरंभ हुआ। यह यूनानी और भारतीय कला के संगम का परिणाम है। ग्रीको-बैक्ट्रियन कला को एशियाई कला में उच्च स्थान प्राप्त है। इसका सेल्यूकीय पोलियों में भी बहुत आदर था, लेकिन वहाँ यह कोई कालजयी कृति नहीं दे पाई। बैक्ट्रिया में इसके आगमन के साथ ही इसने भारत, अफगानिस्तान और मध्य एशिया को प्रभावित किया, और जब इसने भारत में प्रवेश किया तो इसे गंधार कला कहा गया। खास तौर पर अर्धदेह (पोर्ट्रेट) चित्रण कला ने तो वह ऊँचाई प्राप्त की जिसकी तुलना नहीं की जा सकती। यूनानी कला ने भारतीय कला को बहुत प्रेरित किया, परंतु मध्य एशिया ने इस प्रेरणा को इतना नहीं अपनाया और इसीलिए वह उस तरह से पल्लवित नहीं हो सकी। हम इसका प्रभाव कलाओं के नमूनों में देख सकते हैं, जो हमें ख्वारेज्म में मिलते हैं। जहां तक राजनीतिक प्रभाव की बात है, ख्वारेज्म न तो सिकंदर और न ही उसके उत्तराधिकारियों जैसे सेल्युकस और अन्य ग्रीको-बैक्ट्रियन शासकों के अधीन रहा। राहुलजी कहते हैं, "सातवीं शताब्दी के अंत में पहुँचते-पहुँचते इस्लाम से इस भूमि का संबंध होने लगा, आठवीं नौवीं, दसवीं - इन शाताब्दियों में तो मूर्ति-ध्वंस का प्राधान्य हो जाने के कारण मूर्तिकला के पनपने की गुंजाइश नहीं रही। अब वहाँ ही भारत की गंधार कला और उसकी उत्तरवर्ती कलाओं की तरह मध्य एसिया में कोई प्रवाह प्रचलित नहीं रह सका।"[15]

कनिष्क के समय पर गंधार कला फली-फूली और अपने शिखर पर पहुँची। राहुल जी के अनुसार, उसने सन 76 से 106 ई. तक शासन किया। "उसकी राजधानी पुरुषपुर (पेशावर) थी। इसके पहले गंधार के इस नगर को कोई प्रधानता नहीं मिली थी। गंधार की प्रसिद्ध नगरी और राजधानी तक्षशिला थी।"[16] कुषाणों ने व्यापार की महत्ता को पहचाना था, यही कारण है कि उन्होंने व्यापार के मार्गों पर ध्यान दिया। "बड़ी नदियों ही नहीं, बल्कि ऐसी नदियों का भी उन्होंने इस्तेमाल किया था, जिनमें वर्षा के दो-ढाई महीने ही नावें चल सकती हैं।"[17]

बैक्ट्रिया के यूनानी शासकों ने कला को अपनी संपूर्ण क्षमता के साथ प्रोत्साहित किया, परंतु वह भारतीय रंग में तब तक नहीं रंग पाई जब तक कनिष्क का सहयोग इसे न मिला। यह उसके शासन के दौरान ही हुआ कि ग्रीको-बैक्ट्रियन कला ने भारतीय कला का रूप धारण किया। "बुद्ध की प्रथम मूर्ति कनिष्क के समय में बनी, जिसके चीवर के चुन्नट और केश-विन्यास पर ग्रीक प्रभाव दिखाई पड़ता है, यद्यपि बहुत ही सूक्ष्म और मधुर रूप में ही।"[18] उसके समकालीन संस्कृत नाटककार अश्वघोष ने यूनान की नाट्यकला को अपनाया। कनिष्क को बौद्ध धर्म का संरक्षक के रूप में सुविख्यात है। उसने बौद्ध पिटकों के संशोधन और संग्रह के लिए एक समिति का गठन किया। कनिष्क के समय में ही सर्वास्तिवाद के अंतिम रूप मूल सर्वास्तिवाद के त्रिपिटक का पाठ निर्णय और संग्रह हुआ था। इस समिति ने तीन पिटकों की विभाषाएं (भाष्य) भी तैयार कीं। इनमें से कोई भी अब संस्कृत के अपने मूल रूप में उपलब्ध नहीं है। इन टीकाओं को मूल संस्कृत में विभाषा कहा जाता है और यही कारण है कि सर्वास्तिवादियों को कालांतर में वैभाषिक कहा जाने लगा। "कश्मीर और गंधार कुषाण-वंश की समाप्ति के बाद भी वैभाषिकों के केंद्र बने

रहे, यह हम वसुबंधु के लेखों से जानते हैं। कनिष्क की राजधानी पुरुषपुर को ही चौथी सदी में वसुबंधु और उनके अग्रज असंग को पैदा करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। यह दोनों भाई अद्वितीय बौद्ध दार्शनिक हैं।"[19] इसी समय भारतीय और यूनानी कविता, मूर्तिकला और रंगमंच भी परस्पर संपर्क में आए। यही समय भारतीय और यूनानी विचारों के मेल का भी था। "भारतीय न्याय, वैशेषिक, ज्योतिष आदि अनेक शास्त्रों में ग्रीक विचारकों की जो देन हमें स्वीकार करनी पड़ती है, उसका भी समय कनिष्ककाल है। कनिष्क के समकालीन और सम्मानित आचार्यों में आयुर्वेदशास्त्र के विधाता चरक भी हैं।"[20] इसीलिए उसे मात्र बौद्ध धर्म ही नहीं, बल्कि कला और संस्कृति के संरक्षक के रूप में भी जाना जाता है। उसने अपने दरबार में कई विद्वानों को आमंत्रित किया था। उनमें से एक थे मातृचेट, जो अपनी उम्र के कारण वहां नहीं आ सके थे परंतु उन्होंने अपने एक ग्रंथ 'अध्यर्ध शतक' को अपनी सेवा के रूप में भेजा था। "वस्तुत: उस समय कला और विद्या के नवरत्नों का कनिष्क की राजधानी मं जो समागम हुआ था, उसी का अनुकरण तीन शताब्दी बाद चंद्रगुप्त विक्रमादित्य ने किया।"[21]

दूसरी शताब्दी के उत्तरार्ध में कुषाण, भारतीय संस्कृति से केवल प्रभावित नहीं रह गए थे, बल्कि वह पूरी तरह से भारतीय हो गए थे। हम यह राजा वासुदेव के नाम में देख सकते हैं जिसने 152 से लेकर 186 सन तक शासन किया। वासुदेव एक पूर्णतया भारतीय और ब्राह्मण नाम है। "इसके पूर्वाधिकारी हुविष्क (वासुदेव के पिता) का कोई ऐसा सिक्का नहीं मिला, जिस पर बुद्ध की प्रतिमा हो, इसके विरुद्ध शिव विशाख आदि की मूर्तियां उसके अनेकों सिक्कों पर मिलती हैं, जिससे यही जान पड़ता है कि उसकी आस्था ब्राह्मण धर्म पर अधिक थी, इसी से उसके उत्तराधिकारी का नाम वासुदेव पड़ा।"[22]

अरब आक्रमण और विध्वंस

जैसा हम पहले भी देख चुके हैं, इस अवधि के दौरान किसी भी प्रकार की धार्मिक और सांस्कृतिक असहिष्णुता या कट्टरता दिखाई नहीं देती। हालांकि स्थानीय और शासकों के अपने लोगों के बीच कुछ भेदभाव रहे होने के संकेत मिल सकते हैं, मगर यह स्थिति कभी भी तबाही या विध्वंस की सीमा तक नहीं पहुँची। इसके विपरीत इन शासकों ने स्वयं को स्थानीय संस्कृति से समृद्ध करने का प्रयास किया और साथ ही बिना किसी को बाध्य किए और बिना किसी प्रकार की हानि पहुंचाए स्थानीय लोगों तक अपनी संस्कृति की अच्छी बातें पहुँचाने की कोशिश की। फिर यह कैसे हुआ कि यह क्षेत्र ऐसे कट्टरवादियों का शिकार बन गया जो अपनी कट्टरता की सनक में इस हद तक गए कि बामियान जैसी विराट और अप्रतिम बुद्ध प्रतिमाओं का ही ध्वंस कर डाला? यह निश्चित ही बहुत गंभीर चिंता का विषय है। कई अन्य वंशों और उनके मध्य हुए युद्धों का विवरण देते हुए राहुल सांकृत्यायन 7वीं शताब्दी तक आते हैं। यही वह समय था जब मध्य एशिया अपने छोटे छोटे स्वार्थों के कारण आपस में लड़ रहा था। उनके लिए युद्ध खेल जैसे थे, उनके मध्य कोई एकता नहीं थी, फिर चाहे वह तुर्क हों या गैर तुर्क। यही वह समय भी था जब अरब धीरे-धीरे मध्य एशिया की तरफ कदम बढ़ा रहे थे और इस क्षेत्र के शासक अपने ही भाइयों के खिलाफ उनकी सहायता करने में हिचक नहीं रहे थे। "खलीफा उमर ने विधान बनाया था, कि मोमिन (मुसलमान) छोड़कर किसी को भी हथियार चलाने का अधिकार नहीं है। रोम और ईरान के जीते हुए इलाकों में जिस तरह लोगों ने भीषण संघर्ष किया, उससे अरबों को विश्वास नहीं था, कि गैर-मुस्लिम उनके वफादार हो सकते हैं। यह ठीक भी था, क्योंकि अरब किसी देश को केवल राजनीतिक तौर से ही परतंत्र नहीं करना चाहते थे, बल्कि वह वहाँ के धर्म और संस्कृति को इस्लाम के लिए खतरे की बात समझ उन्हें निर्मूल कर देना चाहते थे, जिसके ही कारण संघर्ष बहुत तीव्र हो जाता था।

मध्य एसिया में तुर्क आए, उनसे पहले हेफ्ताल, शक और यवन आए, किंतु वह वहाँ की संस्कृति के दुश्मन नहीं थे। उन्होंने स्थानीय देवी-देवताओं को भी अपने लिए पूजनीय माना और अगर स्वयं संस्कृति में पिछड़े थे, तो यहाँ की संस्कृति से बहुत सी बातें सीखकर अपने को संस्कृत बनाया। अरबों की नीति ऐसी नहीं थी।"[23]

इस युग के उपरांत ही यह पूरा क्षेत्र दुर्दिनों के भंवर में फंस गया। यह सच है कि तब से अब तक बहुत कुछ बदल गया, परन्तु एक ही चीज है जो नहीं बदलती और वह है लोगों के दिल। यह वही लोग हैं, जो आज भी, बामियान बुद्ध और कला के कई अन्य उत्कृष्टतम प्रतिमानों के विध्वंस के उबाद हमारी धरती से सांस्कृतिक एकता और सौहार्द के गीत गाते ही रहते हैं। जैसा कि राहुल जी कहते हैं, "प्राचीन गंधार और आज की पठान जाति यदि गंधार मूर्तिकला पर अभिमान करे, यदि पठान असंग और वसुबंधु जैसे अपने महान विचारकों का गर्व करे, तो इसे कौन अनुचित कह सकता है?"[24] ■

संदर्भ संकेत

1. *सांकृत्यायन राहुल, बौद्ध संस्कृति (कलकत्ता, आधुनिक पुस्तक भवन, 1953) पृ. 225*
2. *सांकृत्यायन राहुल, मध्य एसिया का इतिहास, खंड-1, (पटना, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, 1956) पृ. 198*
3. *वही, पृ. 173*
4. *वही, पृ. 173-74*
5. *वही, पृ. 176*
6. *वही, पृ. 177*
7. *वही, पृ. 178*
8. *वही, पृ. 181*
9. *वही, पृ. 182-183*
10. *वही, पृ. 183*
11. *वही, पृ. 183*
12. *वही, पृ. 184*
13. *वही, पृ. 184*
14. *वही, पृ. 184-185*
15. *वही, पृ. 185*
16. *वही, पृ. 202*
17. *वही, पृ. 203*
18. *वही, पृ. 203*
19. *वही, पृ. 205*
20. *वही, पृ. 205*
21. *वही, पृ. 205*
22. *वही, पृ. 209*
23. *वही, पृ. 269*
24. *सांकृत्यायन राहुल, बौद्ध संस्कृति (कलकत्ता, आधुनिक पुस्तक भवन, 1953) पृ. 226*

डॉ. ए. के. रशीद

पाणिनि : महान भाषाविद और भारतीय-पश्तो भाषा के सच्चे प्रतिनिधि

गंधार के महानतम और कालजयी व्यक्तित्वों में एक रहे हैं पाणिनि। व्याकरण और भाषा विज्ञान के क्षेत्र में उनके अप्रतिम योगदान के लिए न केवल भारत, वरन् संपूर्ण विश्व स्वयं को उनका ऋणी अनुभव करता है। पाणिनि के योगदान के साथ ही संस्कृत एवं पश्तो भाषाओं के अंतर्संबंधों का एक गहन विश्लेषण

पाणिनि का जन्म शालातुला/पुष्कलावती क्षेत्र में छठी शताब्दी ईसा पूर्व में हुआ था। दोनों ही इलाके वर्तमान पख्तूनख्वा और प्राचीन गंधार के हिस्से रहे हैं। विद्वानों के अनुसार, पाणिनि ने संस्कृत भाषा का परिचय 23,000 नए शब्दों से कराया। अनेक भाषाविद मानते हैं कि शब्दविज्ञान का उनका सिद्धांत बीसवीं शताब्दी के भाषावैज्ञानिक सिद्धांतों से अधिक विकसित है क्योंकि वर्तमान विद्वानों ने उनसे बेहतर काम नहीं किया है। पाणिनि ने व्याकरण का जो व्यापक और वैज्ञानिक सिद्धांत प्रतिपादित किया उससे ही भारत में शास्त्रीय संस्कृत का आरंभ और वैदिक युग का अंत माना जाता है। यहां इस बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि व्याकरण को लेकर टीका की रचना करने वाले प्राचीन विचारक पतंजलि ने भी इस अद्वितीय पख्तून का नाम बड़ी श्रद्धा से लिया है। पाणिनि की माता का नाम दाक्षी था और वे दाक्षीपुत्र के नाम से विख्यात थे। दाक्षी शब्द पश्तो मूल (अदाइ) का है जो अवधारणा और अर्थ के स्तर पर पश्तो में अभी भी मां के लिए प्रयोग में लाया जाता है और एक शब्द डाल अफगानी मूल की पुष्टि करता है।एक समय में अफगानिस्तान के शासक रहे प्रसिद्ध पख्तून मीरवाइज खान और अहमद शाह अब्दाली भी अपनी मांओं का नाम के साथ ही प्रसिद्ध हुए। मीरवाइज (नाजू का पुत्र) और अहमद शाह अब्दाली (जरगुना का बेटा) अफगान समाज में अभी भी याद किए जाते हैं। यहां तक कि अदिका, अदिकी जैसे नाम भी पश्तो भाषा में प्रयोग में लाए जाते हैं। महान अफगान विद्वान अहमद अली खान कोहजद पाणिनि के बारे में लिखते हैं, "अटक की सरहद पर वर्तमान पेशावर में रहने वाले शब्दविज्ञान और संस्कृत के ज्ञाता पाणिनि, पहले विद्वान थे जिन्होंने हमें कपिशी का नाम याद दिलाया। ये प्राचीन यूनान के जनक हेरोदोतस के समकालीन थे। उन्होंने कपिशी की शराब की व्याख्या की है। प्राच्यविद्या के फ्रांसीसी विद्वान मुसिवाफर दोफात के अनुसार पाणिनि से लेकर ह्वेनसांग तक (चौथी शताब्दी ईस्वी से लेकर सातवीं शताब्दी ईस्वी तक), यानी इस्लाम के आगमन से हजार साल पहले कपिशी या कपिशा के नाम का उल्लेख किया गया है जिसका उल्लेख हिन्दूकुश के दक्षिण में प्राप्त हुए यूनानी सिक्कों पर भी मिलता है।"[1]

पाणिनि संसार भर में ऐसे पहले मनीषी थे जिन्होंने व्याकरण पर काम किया और इसकी वैज्ञानिक व्याख्या की। भारत में संस्कृत भाषा के पहले व्याकरण की रचना उन्होंने ही की थी। अत: इस विद्वान (एस्पाजी- यूसुफजई- अफगान) को उसके कार्य के परिप्रेक्ष्य में ही देखा जाना चाहिए। संसार भर में व्याकरण को लेकर जो कुछ भी लिखा गया है पाणिनि का लेखन उसमें महत्वपूर्ण स्थान रखता है। भाषाविज्ञान के क्षेत्र में, विशेषकर तुलनात्मक ऐतिहासिक भाषाविज्ञान के क्षेत्र में इसका बहुत ही महत्व है। बरसों पहले एक प्रसिद्ध अफगान लेखक और दारी, पश्तो और अफगानिस्तान की हिंदी भाषाओं के विद्वान अब्दुल शकूर रशद ने पाणिनि पर शोध किया और उनकी अष्टाध्यायी में से कुछ ऐसे शब्द खोज निकाले जो पश्तो भाषा में अभी भी उपयोग में लाए जाते हैं। परंतु कुछ विद्वान और प्रो. रशद जैसे प्राच्यविद नहीं मानते कि पश्तो भाषा भारतीय भाषा परिवार से संबंधित है, जबकि आपसी विचार-विमर्श में वे कहते हैं कि पश्तो भाषा का प्रभाव भारतीय भाषाओं पर है और यह स्वयं आर्यनी या ईरानी भाषा परिवार का

हिस्सा है। अब यह जानना आवश्यक है कि संस्कृत में पश्तो से अनेक शब्द क्यों आए और पश्तो में संस्कृत से शब्द क्यों आए? जहां तक मैं समझता हूं यह बात महत्वपूर्ण है और इस पर शोध भी होना चाहिए कि ऐसा प्राचीन काल में पश्तो भाषा और भारतीय भाषाओं के बीच आर्थिक और सांस्कृतिक संबंधों के कारण हुआ था। भारत भूमि पर पश्तो भाषा का प्रभाव सांस्कृतिक, शैक्षणिक और कुछ सीमा तक व्यापारिक संबंधों से परे नहीं जाता। हमें दो बिंदुओं को ध्यान में रखना होगा। एक तो यह कि इस भाषा ने न केवल अपने परिवार (आर्यनी) की भाषाओं जैसे अवेस्ता और फारसी को सुरक्षित रखा अपितु हिंदी भाषा को भी सुरक्षित रखा जिसका मूल इण्डो-आर्यनी और भारोपीय भाषा परिवारों में है। यदि पश्तो भाषा का प्रभाव संस्कृत पर है तो ऐसा ही पालि भाषा के साथ भी है। प्रायद्वीप में पालि एक ऐसी भाषा है जिसकी अनेक कृतियां बौद्ध काल में मिलती हैं और इस भाषा ने बौद्ध संस्कारों तथा जीवन मूल्यों को अभी भी अपने भीतर सहेजा हुआ है। पालि और चीनी भाषाओं के बाद संभवत: पश्तो ही है जिसने लोक साहित्य की संपदा को संजोए रखा है और साहित्यविदों और लोककथाओं के अध्येताओं का ध्यान आकर्षित किया है। इसका मूल कारण यह है कि पश्तो असल में एक लोकभाषा है। इसने एशियाई संस्कृति और राजनीति में संतुलन बनाए रखा है। दूसरा और अत्यंत रोचक बिंदु यह है कि पश्तो को संसार के महानतम विद्वानों में से एक पाणिनि की कृतियों में स्थान क्यों मिला? और इस भाषा के शब्द वहां से क्यों आए? यहां मैं भाषा विज्ञान की तकनीकी बारीकियों और विस्तार में नहीं जाऊंगा क्योंकि भाषाविज्ञान उस समय केवल विचार विमर्श की स्थिति में था और एक दिन ऐसा अवश्य आएगा जब हमारी अधिकतर अनसुलझी समस्याएं सुलझ जाएंगी और विशेषकर पश्तो भाषा को लेकर हमारी खोज पूरी होगी, परंतु मैं आपको याद दिलाना चाहूंगा कि यह प्रभाव हमारी समान संस्कृति और समान ऐतिहासिक विरासत के कारण है। पाणिनि और उनकी रचनाओं को समान संस्कृति की समान विरासत के रूप में देखा जाना चाहिए और समान आधार पर उनका अध्ययन किया जाना चाहिए।

फिर भी अनेक लोगों के सामने यह प्रश्न खड़ा हो जाता है कि पाणिनि में जितनी क्षमताएं थीं उनसे वे अपने समय में पख्तून समुदाय और उनकी भाषा का विश्लेषण कैसे कर सकते थे। परंतु उनकी शोध प्रविधि और कार्यपद्धति से यह प्रमाणित होता है कि वे उतने ही अफगान पश्तो थे जितने हिंदू थे और आस्था और विश्वास से उतने ही ब्राह्मण भी थे। इस विषय में भारत के महानतम विद्वानों में से एक और उस समय भारत के सबसे बड़े विश्वविद्यालय बनारस हिंदू विश्वविद्यालय के उपकुलपति के विचार महत्वपूर्ण हैं। वे लिखते हैं:

इससे निस्संदेह स्थिति का दूसरा आयाम सामने आता है, जिसका एक आयाम वे लोग पहले ही सामने ला चुके हैं जो अपनी ध रती से प्रेम की कसम से बंधे हैं और इससे होता यह है कि अतिराष्ट्रवाद फैलाने में लग जाते हैं और भारत के लोगों के भारतीयकरण की बात करने लग जाते हैं। ऐसा कहने वाले एकपक्षीय हैं या नहीं? उदाहरण के लिए संस्कृत व्याकरण के महानतम वैज्ञानिक पाणिनि, ब्राह्मण होने के बावजूद युसुफजई पठान थे और भारत के नहीं, ईरान के नागरिक थे।[2]

इन समस्याओं को देखा जाए तो न केवल इस विद्वान का मत हमारे लिए पथप्रदर्शक हो जाता है अपितु पाणिनि की कृतियों का मूल्यांकन भी किया जाए तो पश्तो भाषा के प्रति उनका दृष्टिकोण इस बात की पुष्टि करता है कि उन्हें पश्तो भाषा का ज्ञान था और अपनी कृतियों में उन्होंने पश्तो भाषा का प्रयोग खुल कर किया है। यह एकमात्र उदाहरण नहीं है। यही विद्वान अपनी कृति में लिखते हैं कि:

"यह बात महत्वपूर्ण है कि अशोक ने दीपी और दिविर, लीवी और लिविर जैसे शब्दों का प्रयोग लिखने के अर्थ में किया है, निपिष्ट का भी। दीपी और निपिश्त, अशोक के खरोष्ठी शिलालेखों में भी मिलते हैं और इनका इस्तेमाल प्रथम फारसी हखमानेशियाई साम्राज्य के अभिलेखों में भी किया गया है। चूंकि महान व्याकरणविद पाणिनि को भी उनका ज्ञान है और वे उनका इस्तेमाल भी करते हैं वे गंधार में तब आए होंगे जब महान हखमानेशियाई सम्राट साइरस ने उस क्षेत्र पर अधिकार कर लिया था। इस बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि पाणिनि, जिन्होंने पहली बार इन शब्दों का प्रयोग किया यूसुफजई में पश्चिमी गंधार के थे और ईरानी नागरिक थे। लेखन के लिए प्रयुक्त होने वाला शब्द लिपि, लिखने के उपकरण के लिए लेखनी और कलम (यूनानी शब्द कलमुस से लिया गया शब्द जिसे लेकर अरब आक्रमणकारी आए थे) जैसे शब्दों से संस्कृत भाषा तब तक अनजान थी।"[3]

उपरोक्त लेखक ने पश्तो शब्दों के स्थान

17वीं शताब्दी में कश्मीर से प्राप्त पाणिनि के व्याकरण भाष्य की एक भोजपत्र पांडुलिपि
साभार: https://en.wikipedia.org/wiki/P%C4%81%E1%B9%87ini#/media/File:Birch_bark_MS_from_Kashmir_of_the_Rupavatra_Wellcome_L0032691.jpg

एस्पजई वे लोग थे जो साक्यान या शातीन कबीले से थे और जब फारस के साइरस महान ने गंधार पर आक्रमण किया तो उसे साक्यान लोगों का तीव्र प्रतिरोध झेलना पड़ा था। गंधार विजय की अपनी लालसा में उसे साक्यानों के हाथों अपनी जान गंवानी पड़ी थी।

पर फारसी शब्दों का प्रयोग किया है, जो वे समझ नहीं सके। फिर भी वे पश्चिमी गंधार के बारे में स्वयं कहते हैं कि लोगों (एस्पजई या यूसुफजई) की भाषा पश्तो के अतिरिक्त कुछ नहीं है। एस्पजई वे लोग थे जो साक्यान या शातीन कबीले (जो लोग आजकल पख्तून कहलाते हैं उनके पूर्वज इसी कबीले से थे; आधार : प्रसिद्ध अफगान भाषाविद प्रोफेसर जियार का शोध) से थे और जब फारस के साइरस महान ने गंधार पर आक्रमण किया तो उसे साक्यान लोगों का तीव्र प्रतिरोध झेलना पड़ा था। गंधार विजय की अपनी लालसा में उसे साक्यानों के हाथों अपनी जान गंवानी पड़ी थी।

कहा जाता है कि ये शब्द फारसी में बोले गए थे परंतु यह सही प्रतीत नहीं होता। इसके विपरीत ये शब्द अशोक के समय की पश्तो से आए हैं। इसी संदर्भ में यह भी कहा जा सकता है कि लेखन के लिए प्रयुक्त होने वाला शब्द लीकी मूलत: फारसी से नहीं लिया गया है अपितु इसका मूल पश्तो शब्दों जैसे लीकी, दीपी या लीवी में कहीं है जिनका प्रयोग पश्तो में आज भी रोजमर्रा के जीवन में होता है। इसी प्रकार नेपुश्ते (नेवेश्ते, नमीशते, नबेशते) जैसे शब्द भी पश्तो और फारसी भाषाओं में 'नमिश्ते' के रूप में इस्तेमाल किए जाते हैं जिसे अब हम पश्तो, फारसी और संस्कृत के सामान्य शब्दों से जोड़ सकते हैं। इसकी व्याख्या करते हुए उपरोक्त उद्धरण के लेखक ने यह स्पष्ट किया है, "लिपि शब्द जो संस्कृत में लेखन से संबंधित शब्द के रूप में प्रयुक्त होता है और ऐसे अन्य शब्दों का उल्लेख आज तक नहीं किया गया है।"[4] संस्कृत भाषा में लेखन के उपकरण के लिए लेखनी शब्द का प्रयोग होता है जबकि लेखनी के लिए अरबी में कलम शब्द का इस्तेमाल होता है जो यूनानी शब्द कलमुस से लिया गया है। 'कलमुस' शब्द संस्कृत भाषा में नहीं मिलता, क्योंकि भारत में अशोक से पहले जो शिलालेख मिलते हैं उनके विवरणों के उपयुक्त अभिलेख नहीं बनाए गए थे।[5] यद्यपि वे कलम शब्द को पश्तो उच्चारण कलम से जोड़ते हुए कलमुस और कलमुस तक ले गए हैं, परंतु लीवी या दीपी शब्दों के लिए मूल पश्तो शब्द लीकी के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं मिलता। परंतु लेखक ने इन अनजान शब्दों को संस्कृत माना। कारण यह था कि लेखन को भारत-ईरानी भाषा समूह की पर्याप्त जानकारी नहीं थी या वे इस महत्वपूर्ण बिंदु पर ध्यान नहीं दे पाए। अत: यह स्पष्ट होता है कि संस्कृत और इस समूह की अन्य भाषाओं में इस प्रकार के शब्द उपलब्ध नहीं थे और भारतीयों को ऐसे शब्दों की जानकारी नहीं थी। संस्कृत भाषा ने अनेक अवसरों पर अनेक ऐसे पश्तो शब्दों को आत्मसात किया है जिनके समानार्थी उसमें उपलब्ध नहीं थे।

पाणिनि और गंधार

पाणिनि का जन्म गंधार में हुआ था जो कि मध्य अफगानिस्तान में है। सिंधु नदी इस नगर से होकर निकलती है। इस क्षेत्र में स्थित महत्वपूर्ण नगर हैं तक्षशिला, चारसद्दा, मर्दान और पेशावर। परंतु एक अफगान लेखक अहमद अली खान कोहजद के अनुसार गंधार क्षेत्र का सर्वाधिक महत्वपूर्ण नगर नंगरहार या जलालाबाद था जो वर्तमान अफगानिस्तान का एक महत्वपूर्ण नगर है। वे आगे लिखते हैं, "अफगानिस्तान का पूर्वी भाग काबुल नदी के स्रोत से लेकर सिंधु नदी से इसके संगम तक फैला हुआ था जिसे वैदिक काल में गंधार कहते थे। गंधार के बीचोंबीच एक अन्य नगर था जिसे नंगरहार कहते हैं। नंगरहार वर्तमान अफगानिस्तान का एक प्रांत है।"[6]

विकीपीडिया पर गंधार के बारे में कुछ आधारभूत तथ्य देखने को मिलते हैं। वहां इसे एक प्राचीन प्रांत, महाजनपद कहा गया है जो प्राचीन भारतीय प्रायद्वीप, जहां वर्तमान में अफगानिस्तान और पाकिस्तान स्थित है, के उत्तर-पश्चिम में पेशावर घाटी में स्थित था। इस क्षेत्र का केंद्र काबुल और स्वात नदी के संगम पर था, जो पश्चिम में सुलेमान पर्वतों और पूर्व में सिंधु नदी से घिरा हुआ था। दक्षिण में सफेद कोह के पर्वत इसे कोहाट क्षेत्र से अलग करते थे। यह गंधार का केंद्रीय क्षेत्र है। 'बृहत्तर गंधार' का सांस्कृतिक प्रभाव सिंधु नदी के पार तक्षशिला तक, पश्चिम की ओर अफगानिस्तान में काबुल और बामियान की घाटियों तक, और उत्तर की ओर कराकोरम श्रृंखला तक फैला था।[7]

नंगरहार वास्तव में गंधार के विज्ञान और तकनीक के सर्वाधिक महत्वपूर्ण केंद्रों में रहा है। ऐतिहासिक तथ्यों से पता चलता है कि इस नगर ने वैदिक संस्कृति के अत्यंत महत्वपूर्ण अवशेषों को सुरक्षित रखा है। नंगरहार के इर्दगिर्द ऐसे अनेक तीर्थस्थल हैं जो भारत के साथ ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और धार्मिक संबंधों की पुष्टि करते हैं। उदाहरणार्थ नंगरहार के निकट ही एक महत्वपूर्ण स्थल है जिसका नाम है पवमापुर, जिसका अर्थ है नीलोफर यानी कमल के फूलों का नगर। अफगान स्रोतों में इस नगर के बारे में कहा गया है, "चूंकि नीलोफर बौद्धधर्म में पवित्रता और समृद्धि का प्रतीक है, हम यह कह सकते हैं कि यह नगर इस क्षेत्र के पवित्रतम नगरों में से था। अफगान और चीनी स्रोतों में इस कस्बे की विस्तृत व्याख्या की गई है। चीनी भाषा में इस कस्बे को हवा शी शांग कहते हैं। इसी तरह का एक अन्य नगर इस क्षेत्र में था जिसे विपंकरबुद्ध कहते थे। इससे पहले इसका उल्लेख रि पावती के नाम से मिलता है।"[8]

ऐतिहासिक और शिलालेखीय साक्ष्यों से पता चलता है कि कंधार नगर की अंतिम सीमा अराकोसिया पर जाकर समाप्त होती थी। अब यह क्षेत्र वर्तमान कंधार का हिस्सा है। अशोक के समय में निर्मित गंधार शिलालेख के अनुसार गंधार (कंदहार) की अंतिम सीमा फारस के पास जाकर समाप्त होती थी जो वर्तमान में भी ज्यों की त्यों है। यह शिलालेख ब्राह्मी और यूनानी दोनों ही लिपियों में उकेरा गया है। अराकोसिया गंधार और फारस के बीच अंतिम बिंदु था। शेरशाह सूरी और बादशाह अकबर से लेकर औरंगजेब तक के मुगल शासकों ने भी फारस के साथ अपने संघर्ष में इस क्षेत्र के सामरिक

महत्व पर बल दिया था। अशोक का यह शिलालेख हर तरह से चहले जीने का प्रभाव प्रदर्शित करता है। चहले जीने वर्तमान कंधार का पुराना हिस्सा है, जो पंजवई से अधिक दूर नहीं है और शिलालेख से यह स्पष्ट होता है कि एक समय यह अत्यंत समृद्ध, घनी आबादी वाला क्षेत्र था। यह क्षेत्र अरगंदाब नगर के बाई ओर बिल्कुल पास में ही था। अरगंदाब आजकल मंतिकाबाद का हिस्सा है। मौर्य शासक के समय यह इस क्षेत्र का सबसे घनी आबादी वाला क्षेत्र था। ऐसा लगता है कि मकदूनिया के सिकंदर ने इस दर्रे को पार करते समय अराकोसिया नगर के पास एक यूनानी बस्ती बसाई थी।[9]

परंतु जब हम उस महानतम भाषाशास्त्री पाणिनि की बात करते हैं जिन्होंने गंधार में जन्म लिया था और वहीं पले बढ़े थे, हम पूरे विश्वास से कह सकते हैं कि उस समय भारत और गंधार में बोली जाने वाली भाषाओं के बीच जो गहरा संबंध था वह अफगानिस्तान और रोहिस्तान के इतिहास में प्रतिबिंबित होता है। कंदहार की आधुनिक भारत की भाषा और संस्कृति की सुरक्षा उसी भाषा पर निर्भर है जिसमें हम आजकल बातचीत करते हैं।

अनेक अफगान लेखकों की, जिनमें अहमद अली खान कोहजद भी आते हैं, यही मान्यता है: "इसमें संदेह नहीं है कि अफगानिस्तान भारत और ईरान के बीच स्थित है। इसमें भी कोई संदेह नहीं है कि भारत और ईरान के बीच वाले क्षेत्र में विभिन्न घाटियों में बीस से अधिक भाषाएं मौजूद हैं जिन्हें वहां के लोग बोलते हैं। इन भाषओं में से कुछ संस्कृत और अवेस्ताई भाषाओं से संबंधित और इन पर निर्भर हैं और वे भाषाएं भी जो वर्तमान हैं किसी न किसी तरह से संस्कृत और अवेस्ताई दोनों ही प्रकार की

पाणिनि के सम्मान में जारी किया गया एक भारतीय डाक टिकट
साभार: https://www.newsgram.com/panini-indian-scholar-who-gave-world-the-concept-of-grammar

भाषाओं से संबंधित हैं।[10]

अपने इतिहास के दौरान गंधार जिसे अब अफगानिस्तान केवल एक भौगोलिक क्षेत्र नहीं अपितु विभिन्न कालखंडों में संस्कृति और सभ्यता का गढ़ रहा है। गंधार का इतिहास गौरवशाली रहा है और यह ऐसा भूभाग रहा है जिसे इतिहास में अधिकतर 'स्वतंत्र भूभाग' की हैसियत से ही जाना जाता रहा है। "मुस्लिम शासन के दौरान इस क्षेत्र का प्रशासन लाहौर या काबुल से चलाया जाता रहा है। मुगलकाल में यह एक स्वतंत्र जनपद था जिसके अंतर्गत काबुल भी आता था।"[11]

अपने समय में पाणिनि ने उपरोक्त सब भाषाओं के साथ साथ अन्य भायाओं का भी गहन अध्ययन किया। इनमें उनकी अजपनी मातृभाषा पश्तो भी थी। पहले ही कहा गया है कि इस मनीषी की माता का नाम दाक्षी था और इसलिए वह दाक्षीपुत्र कहलाता था। उन्होंने अपनी स्रोत सामग्री तत्कालीन गंधार और अफगानिस्तान की भाषाओं से प्राप्त की और उनको संस्कृत में सम्मिलित करने का भरसक प्रयत्न किया। अफगानिस्तान की वर्तमान स्थिति में जो तथ्य उपलब्ध होते हैं उनसे पता चलता है कि वर्तमान अफगानिस्तान में चालीस से अधिक बोलियां और भाषाएं बोली जाती हैं। यही वह विरासत है जो गंधार ने वर्तमान अफगानिस्तान के लिए छोड़ी है। इस विरासत के दर्शन पाणिनि की कृतियों में होते हैं। कुछ उदाहरण:[12]

संस्कृत: अनिस (कंधे पर भार उठाना)
पश्तो : वनिस;निवल(समानार्थी)
संस्कृत: अक्षि (आंख)
पश्तो : क्शि (पुतली)
संस्कृत: अ-गद (स्वस्थ, रोगरहित)
पश्तो : रग्द (रोग) (स्वस्थ)
संस्कृत: अग्द्य-रोगवच्छेद (रोगरहित होना, स्वस्थ होना)
पश्तो : रोग्द्य-रोघ्त्य (अच्छा स्वास्थ्य होना)
संस्कृत: ग-गर्गादि (गोत्र का पूर्वज)
पश्तो : गदि, गदय (पूर्वज का स्थान)
संस्कृत: अग्नि-दाता (व्यक्ति का नाम)
पश्तो : दादा (बड़ी बहन, दादा-दादी)
संस्कृत: सर्मन (एक व्यक्ति)
पश्तो : सर्मन -सरोंके (चौकीदार)
संस्कृत: वनम् (जंगल)
पश्तो : वन-वने (जंगल)
संस्कृत: अंगुष्ठ (अंगूठा)
पश्तो : अंगुश्त (उंगली)
संस्कृत: व्यज (दूर चले जाना)
पश्तो : वज, वर्ज (चले जाना)
संस्कृत: व्यध (शाब्दिक आधार)
पश्तो : वयन, वेयल (बोलना)
संस्कृत: व्यव (प्रदान करना, उपहार)
पश्तो : व्यर, स्तयल (सराहना करना)
संस्कृत: व्यवस्था
पश्तो : वोसेदन-वोसेदल (इंतजाम)
संस्कृत: व्याकरण
पश्तो : वायि पोह (व्याकरण) ■

संदर्भ संकेत

1. *अहमद अली खान कोहजद, अफगानिस्तान दर परतौ ए तारीख, अनु. पश्तो, पेशावर, 2001, पृ. 214*
2. *बी.एस. उपाध्याय, फीडर्स ऑफ इंडियन कल्चर, नई दिल्ली. भूमिका पृ. 1*
3. *बी.एस. उपाध्याय, फीडर्स ऑफ इंडियन कल्चर, नई दिल्ली. भूमिका पृ. 37*
4. *वही, पृ. 37*
5. *वही, पृ. 37*
6. *अहमद अली खान कोहजद, अफगानिस्तान दर परतौ ए तारीख, अनु. पश्तो, पेशावर, 2001, पृ. 358*
7. *https://en.wikipedia.org/wiki/Gandhara*
8. *अहमद अली खान कोहजद, अफगानिस्तान दर परतौ ए तारीख, अनु. पश्तो, पेशावर, 2001, पृ. 360*
9. *वही, पृ. 21*
10. *वही, पृ. 28*
11. *https://en.wikipedia.org/wiki/Gandhāra*
12. *पाणिनि अष्टाध्यायी, टेक्सास प्रेस, 1987*

देवेश खंडेलवाल

सीमांत का एक देशभक्त खान अब्दुल गफ्फार खान

गंधार क्षेत्र के महान स्वतंत्रता सेनानियों में से एक थे खान अब्दुल गफ्फार खान। वे सच्चे अर्थों में गांधीजी के अनुयायी थे। इसीलिए वे सीमांत गांधी भी कहलाते हैं। देश के विभाजन का उन्होंने पुरजोर विरोध किया, यह अलग बात है कि वह हो ही गया। उनके योगदान को रेखांकित करने का एक प्रयास

खान अब्दुल गफ्फार खान का जन्म पेशावर के उत्मंजई गांव में हुआ था जो ब्रिटिश भारत के उत्तर-पश्चिमी सीमांत प्रांत में स्थित था और अब पाकिस्तान के खैबर पख्तूनख्वा में है। इस गांव से चार मील की दूरी पर चारसद्दा का प्राचीन नगर था जो गंधार की राजधानी रहा था। पेशावर से साढ़े बारह मील पश्चिम में खैबर दर्रे का आरंभ होता है। महमूद गजनवी से लगभग 130 वर्ष पहले इस क्षेत्र पर याकूब-ए-लैत का आक्रमण हुआ था जिसने काबुल, गजनी और खैबर में अनेक लोगों को इस्लाम कुबूल करने के लिए मजबूर कर दिया।

गफ्फार की इस्लाम में आस्था तो थी पर वे अन्य धर्मों को भी बराबर का सम्मान देते थे। अन्य धर्मों के प्रति उनके उदार दृष्टिकोण के कारण उनके कुछ आलोचक और विरोधी कहते थे कि वे हिंदू हैं। महात्मा गांधी लिखते हैं, "एक साल तक वे मेरे साथ रहे और इस दौरान बीमारी की स्थिति के अतिरिक्त उन्होंने रमजान की नमाज में कभी नागा नहीं किया। परंतु इसका अर्थ यह नहीं था कि वे अन्य धर्मों का सम्मान नहीं करते थे।"[1] हिंदुओं के बारे में अब्दुल गफ्फार का कहना था, "अगर वे बुतपरस्त हैं तो हम क्या हैं? मजारों पर इबादत करने का क्या मतलब है? यह कैसे कहा जा सकता है कि वे खुदा के कमतर बंदे हैं जबकि मैं जानता हूं कि वे भी एक ही परमात्मा को मानते हैं?"[2]

उनकी शिक्षा का आरंभ मजहबी तालीम से ही हुआ। नियमित शिक्षा के लिए उन्हें पेशावर के मिशन हाई स्कूल भेजा गया परंतु वे मैट्रिक की परीक्षा पास न कर सके। तब वे अलीगढ़ चले गए जहां उन्होंने उर्दू अखबार पढ़ना शुरू किया। वे मौलाना जफर अली खान द्वारा संपादित 'जमीनदार' और मौलाना अबुल कलाम आजाद द्वारा संपादित 'अल-हिलाल' साप्ताहिक अखबारों पर विशेष ध्यान देते थे। ये अखबार पढ़ने से राजनीति में उनकी दिलचस्पी दिलचस्पी पैदा हुई और उनके भीतर देशभक्ति मजबूत होती चली गई।[3] उनका राजनीतिक जीवन शुरू हुआ 1919 में जब वे रोलेट बिलों के विरोधी आंदोलन में कूद पड़े। वे गिरफ्तार कर लिए गए और फिर छोड़ भी दिए गए।

जेल से छूटने के बाद वे चुपचाप समाज सुधार के कार्य में जुट गए। अपने गांव में आजाद हाई स्कूल की स्थापना करके उन्होंने अपने रचनात्मक कार्य को आधार दिया। अब्दुल गफ्फार खान ने ऐसा काम किया कि ब्रिटिश सरकार परेशान हो गई। उनके स्कूल को खुले छह माह ही हुए थे कि चीफ कमिश्नर जॉन मैफी ने उनके पिता को बुलाया और कहा कि वे अपने बेटे को स्कूल बंद करने के लिए मना लें, क्योंकि उसमें ब्रिटिश विरोधी गतिविधियां चल रही थीं। अतः पठानों के मन में राष्ट्रवादी रुझान पैदा करने के आरोप में वे सीमांत अपराध कानूनों के अंतर्गत हिरासत में ले लिए गए।

जेल में रहना उनके लिए आध्यात्मिक अनुभव था। हिंदू और सिक्ख मित्रों से उनका जीवन भर का रिश्ता बन गया और उन्होंने विभिन्न धर्मों और संस्कृतियों का अध्ययन करना शुरू किया। जेल के इस अनुभव के बारे में महादेव देसाई को बताते हुए वे कहते हैं, "यहां मैंने पहली बार गीता का अध्ययन किया, गुरु ग्रंथ साहिब और बाइबल को भी जाना-समझा। अंडमान के पंडित जगतराम से मैंने गीता पढ़ी। पंडित जी को गीता का जुनून था और उन्होंने इसकी आत्मा को मुझ तक पहुंचाया।"[4]

1924 में रिहा करके उन्हें पेशावर भेज दिया गया। शहर के डिप्टी कमिश्नर ने पुलिस को निर्देश दिया कि उन्हें गांव छोड़ आएं। उन्होंने अब्दुल गफ्फार को आजाद स्कूल के सामने छोड़ दिया।

उनके रिहा होने की आशा तो लोगों को थी ही इसलिए स्कूल का सालाना जलसा यानी वार्षिकोत्सव स्थगित कर दिया गया था। वे रिहा हुए तो उनके स्वागत के लिए हजारों लोग मौजूद थे। सब अत्यंत उत्साहित थे और अपने युवा नेता के लिए प्रशंसा और प्रेम से भरे हुए थे। उन्हें एक मेडल देकर सम्मानित किया गया और "फख्रे अफगान" की उपाधि दी गई जिसका अर्थ होता है अफगानी पठानों का गर्व।

समाज सुधार को लेकर अब्दुल गफ्फार का दृष्टिकोण आधुनिक था। वे चाहते थे कि पठानों का विकास हो और इसके लिए उन्होंने जी-जान से काम किया। वे हज करके लौटे तो उन्होंने पख्तूनों तक सामाजिक और राजनीतिक पुनर्निर्माण का संदेश पहुंचाने के लिए लंबी और कठिन पदयात्राएं कीं। अधिकतर पठान अनपढ़ थे जिनके लिए काला अक्षर भैंस बराबर था। गफ्फार ने गांव-गांव जाकर उनसे स्वयं बातचीत करके उन्हें प्रेरित किया। पख्तूनों की संख्या एक करोड़ से ऊपर थी जिनमें उत्तर-पश्चिमी सीमांत प्रांत, कबाइली क्षेत्र और अफगानिस्तान में रहने वाले पठान भी आते थे। "उस समय पख्तूनों के मन में अपनी भाषा के प्रति कोई प्रेम नहीं था", अब्दुल गफ्फार कहते हैं, "उन्हें तो यह एहसास भी नहीं था कि पश्तो उनकी भाषा है और वे जहां भी जाते वहीं की भाषा अपना लेते और अपनी भाषा को भूल ही जाते।"[5]

ऐसे ही हालात में 'पख्तून' पत्रिका ने जन्म लिया और जल्दी ही यह विश्व भर में लोकप्रिय हो गई। अमरीका में रहने वाले पख्तूनों ने न केवल इसके प्रसार में सर्वाधिक योगदान दिया, अपितु भरपूर आर्थिक सहायता भी दी। 'पख्तून' में राजनीतिक विषयों पर उत्कृष्ट लेख छपते थे, जैसे कबायली क्षेत्र पर खतरा और साइमन कमीशन का विरोध। यह पत्रिका 1930 तक मासिक के रूप में छपती रही जब अब्दुल गफ्फार सविनय अवज्ञा आंदोलन में कूद पड़ने के कारण गिरफ्तार कर लिए गए और इस पर प्रतिबंध लगा दिया गया। जहां उन्हें कैद करके रखा गया था उस स्थान को हजारों लोगों ने घेर लिया और पेशावर में विशाल प्रदर्शन का आयोजन किया गया।[6]

दिसंबर 1928 में एक खिलाफत सम्मेलन में भाग लेने के लिए अब्दुल गफ्फार अपने कुछ साथियों के साथ कलकत्ता गए। वहां

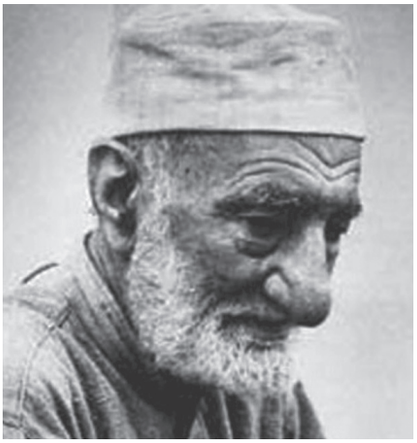

खान अब्दुल गफ्फार खान
साभार: http://bolbihar.in/2017/01/20/remembering-khan-abdul-gaffar-khan-on-his-death-anniversary/

अली भाइयों और पंजाबी नेताओं के बीच गंभीर मतभेद सामने आए। खिलाफत सम्मेलन में अपने अध्यक्षीय भाषण में मोहम्मद अली ने हिंदुओं पर निशाना साधते हुए उनकी सभ्यता, संस्कृति, रीति-रिवाजों और व्यवहार की खिल्ली उड़ाई।

अब्दुल गफ्फार के लिए यह अत्यंत पीड़ाजनक अनुभव था क्योंकि अलगाव की नीति उन्हें किसी भी तरह से स्वीकार नहीं थी। कलकत्ता में कांग्रेस अधिवेशन भी साथ साथ ही चल रहा था। अब्दुल गफ्फार ने इस अधिवेशन में जाने का फैसला किया। रुकावटों और आलोचना के बावजूद महात्मा गांधी ने अविचलित रहकर खुशनुमा माहौल में पूरा किया। अब्दुल गफ्फार के लिए यह विरल अनुभव था। अपने डेरे पर लौटकर उन्होंने अपने साथियों को यह अनुभव सुनाया। उन्होंने साथियों का ध्यान इस बात की ओर दिलाया कि पूरी शांति और संयम से बोलने वाले हिंदुओं के नेता महात्मा गांधी मुसलमान नेता मौलाना मुहम्मद अली से कितने अलग थे![7]

इसके बाद खिलाफत सम्मेलन में उनकी कोई दिलचस्पी न रह गई और वे वापस चले गए। वहां उन्होंने एक स्वयंसेवी संगठन खुदाई खिदमतगार की स्थापना की। इसके स्वयंसेवक 'लाल कुर्ती वाले' कहलाते थे। यह संगठन पूरी तरह से सामाजिक उद्देश्यों के लिए काम करता था जैसे पठानों को अराजकता और लूटमार से विमुख करना और उन्हें शिक्षा की ओर मोड़ना। उन्होंने स्वयं कहा है, "सितंबर 1929 में हम खुदाई खिदमतगार संगठन की स्थापना करने में सफल रहे। इस संगठन को यह नाम एक विशेष उद्देश्य से दिया गया; खुदा के नाम पर कौम और मुल्क की खिदमत करने का जज्बा हम पख्तूनों में डालना चाहते थे।"[8]

खुदाई खिदमतगार बनने के लिए एक प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी जिससे हर सदस्य बंधा होता था, "मैं एक खुदाई खिदमतगार हूं और चूंकि खुदा कि किसी खिदमत की जरूरत नहीं होती में किसी भी स्वार्थ के बगैर उसके बंदों की खिदमत करके उसी की खिदमत करूंगा। मैं कभी भी हिंसा का इस्तेमाल नहीं करूंगा, मैं कभी भी जवाबी कार्रवाई नहीं करूंगा और किसी से बदला भी नहीं लूंगा, जो कोई भी मेरे साथ जुल्मो-जब्र या ज्यादती करेगा मैं उसे माफ कर दूंगा। मैं किसी भी साजिश, खानदानी अदावत (बैर) और दुश्मनी में मुब्तिला (आसक्त) नहीं रहूंगा और हर पख्तून को अपना भाई और साथी समझूंगा। मैं बुरे रिवाजों और आदतों को छोड़ दूंगा। मैं सादा जिंदगी बसर करूंगा, सब के साथ अच्छाई करूंगा और बुराई से परहेज करूंगा। मैं अच्छे चरित्र का मालिक बनूंगा और अच्छी आदतें डालूंगा। मैं कभी भी बेकार नहीं बैठूंगा। मैं अपनी सेवाओं के बदले में कोई मजदूरी नहीं लूंगा। मैं बेखौफ होकर किसी भी कुरबानी के लिए तैयार रहूंगा।" उन्होंने एक ऐसा अनुशासित और प्रतिबद्ध संगठन तैयार कर लिया था कि भारत का सबसे डरावना और हिंसक भाग अहिंसक असहयोग आंदोलन की गतिविधियों का सबसे सुरक्षित केंद्र बन गया।[9]

अप्रैल 1930 तक खुदाई खिदमतगारों की संख्या 500 से अधिक नहीं थी। पर छह महीनों में ही वे 50,000 हो गए। आंदोलन तेजी से फैल गया और कबायली क्षेत्र तक पहुंच गया। यह इतना लोकप्रिय हो गया कि जिस गांव में भी अब्दुल गफ्फार जाते वहां खुदाई खिदमतगार पहले ही काम कर रहे होते।

महात्मा गांधी ने ऐतिहासिक दांडी यात्रा का आरंभ 12 मार्च,1930 कि किया। इस अवसर पर उत्मंजई में खुदाई खिदमतगारों की पहली अधिकृत सभा का आयोजन किया गया। उनका कहना था कि "मेरी अहिंसा मेरे लिए लगभग अपनी ही आस्था बन गई है। पहले मैं गांधीजी की अहिंसा में विश्वास रखता था। परंतु मेरे प्रांत में अहिंसा के इस प्रयोग को जो असाधारण सफलता मिली उससे मैं अहिंसा का पक्का हिमायती बन गया हूं। खुदा ने चाहा

तो मेरा प्रांत कभी भी हिंसा के रास्ते पर नहीं चलेगा।"[10] अहिंसा का सिद्धांत उनके जीवन में सर्वोपरि था और यह लगभग उनका धर्म ही बन गया था। वे मानते थे कि उनके समुदाय को किसी भी वस्तु से अधिक अहिंसा की आवश्यकता है।

अप्रैल 1930 में नमक कानून का उल्लंघन करने के आरोप में वे गिरफ्तार कर लिए गए। छह वर्षों तक लंबा निर्वासित जीवन जीने के बाद अगस्त 1937 के अंत में उन्होंने फिर से उत्तर-पश्चिमी सीमांत प्रांत में प्रवेश किया। लोगों ने बड़ी गर्मजोशी से उनका स्वागत किया। इसके बाद उन्होंने पेशावर में एक जनसभा की जिसे संबोधित करते हुए उन्होंने कहा: "खुदा का शुक्र है कि आपकी खुशियों में शरीक होने के लिए मैं फिर से आपके साथ हूं। मगर असली खुशी अभी बाकी है, और हमारी इस खुशी का तब तक कोई मतलब नहीं है जब तक हमें आजादी नहीं मिल जाती।

आजादी की हमारी जद्दोजहद अब उस मकाम पर पहुंच गई है जहां हमें और भी बड़ी कुरबानियां देनी पड़ेंगी। जहां तक मेरा सवाल है, मैं आपसे फिर एक बार कहना चाहता हूं कि मैं तब तकआजादी के लिए जद्दोजहद करता रहूंगा जब तक हम विदेशी दासता की जंजीरों से आजाद न हो जाएं और हमारे मुल्क में वह सरकार कायम न हो जाए जो सही मायनों में लोगों की सरकार हो।"[11]

गांधी-इरविन समझौते के बाद, वे कांग्रेस के 45वें अधिवेशन में भाग लेने के लिए कराची गये। वहां उन्होंने हिंदी में प्रभावशाली और ऐतिहासिक भाषण दिया, "हम प्यार और मुहब्बत के मुरीद हैं। हम स्वतंत्रता के लिए कोई भी बलिदान देने के लिए तैयार हैं और महात्माजी अपना संघर्ष जारी रखते हैं तो हम सही समय पर अपने काम से अपनी देशभक्ति का प्रदर्शन करेंगे। सरहदें दरवाजों की तरह होती हैं और हम उनके पहरेदार हैं। आपको समझना चाहिए कि महात्मा गांधी का संदेश खैबर दर्रे को पार कर चुका है। हम, सरहदों के पहरेदार उनके बेहद वफादार रहेंगे।" कांग्रेस के 48वें अधिवेशन में उन्होंने देशभक्ति का एक प्रस्ताव रखा, "जब तक होम-रूल प्राप्त नहीं कर लिया जाता तक हमें देश की सेवा में लगे रहना होगा।"

पठानों में जो राजनीतिक चेतना जागृत हुई थी वह मुख्यत: खान अब्दुल गफ्फार खान और उनके करीबी साथियों के तीस वर्षों के अथक परिश्रम से संभव हो पाया था। अपनी नेतृत्व क्षमता के कारण वे 'बचा खान' भी कहलाते थे जिसका अर्थ होता है सरदार या नेता। वे बादशाह खान के नाम से भी लोकप्रिय थे। उनका प्रभाव सीमांत क्षेत्र के आरपार हर जिले तक विस्तारित हो गया था। उत्तर से दक्षिण, हाजरा, मर्दान, पेशावर, कोहाट, बन्नू और डेरा इस्माइल खान हर क्षेत्र में उनके नाम की गूंज थी।

गफ्फार खान समझते थे कि अंग्रेजों के विरुद्ध किसी भी शांतिपूर्ण प्रचार के लिए कांग्रेस की सहायता आवश्यक थी। अंग्रेजों के बारे में वे स्पष्ट कहते थे कि उनके किसी भी शब्द पर वे रत्ती भर विश्वास नहीं करते। अंग्रेजों से उनका व्यक्तिगत बैर तो था नहीं पर अंग्रेजों ने पठानों पर जो अत्याचार किया था और उनके प्रांत को 'हत्याओं का प्रांत' घोषित किया था उससे वे अत्यंत क्षुब्ध थे।[12]

बमों और गोलियों के अंग्रेजी हथकंडे पठानों को पसंद नहीं थे। इसीलिए उन्होंने काफिर फिरंगियों को सिंधु नदी के पार धकेलने के लिए कमर कस ली। यह गफ्फार खान की असाधारण नेतृत्व क्षमता ही थी जिसके कारण ये पठान मानव प्रेम के सिद्धांत को अपनाते हुए कानून की हदों में रहे। 1947-48 में गफ्फार खान ने भारत के विभाजन का जबरदस्त विरोध किया। कांग्रेस के नेताओं ने विभाजन को स्वीकृति दे दी तो बादशाह खान के लिए यह बहुत ही कड़वा और निराशाजनक अनुभव रहा। कांग्रेस की कार्यसमिति की सभा में बादशाह खान ने अपनी इस पीड़ा को अभिव्यक्ति दी थी। वे इस बात से बहुत आहत थे कि उन लोगों ने राष्ट्रवादी पठानों को नीचा दिखाया था जिनके साथ वे हर स्थिति में कंधे से कंधा मिलाकर खड़े रहे थे।

भारत के विभाजन के बाद पाकिस्तान बना तो गफ्फार खान चुप नहीं रहे। उन्होंने पख्तूनिस्तान की स्थापना के लिए आंदोलन शुरू किया जिसके लिए पाकिस्तानी सरकार ने उन्हें अनेक बार जेल भेजा। अपनी अंतिम गिरफ्तारी के बाद, पाकिस्तान में सैनिक तानाशाही के दौरान वे लंबे समय तक अफगानिस्तान में निर्वासित जीवन जीते रहे।

1972 में वे वापस पाकिस्तान आए। उसके अगले ही वर्ष प्रधानमंत्री जुल्फिकार अली भुट्टो की सरकार ने उन्हें मुल्तान में गिरफ्तार कर लिया। वे नजरबंद कर दिए गए और नजरबंदी में ही उन्हें पक्षाघात का जबरदस्त दौरा पड़ा। उन्हें इलाज के लिए भारत लाया गया। पर रोग की स्थिति ही ऐसी थी कि कुछ भी नहीं किया जा सकता था। तब उन्हें पेशावर के लेडी रीडिंग अस्पताल ले जाया गया जहां 20 जनवरी, 1988 को उन्होंने अंतिम सांस ली। लगभग दो लाख शोकग्रस्त लोगों ने, जिनमें अफगानिस्तान के राष्ट्रपति मुहम्मद नजीबुल्लाह और भारत के प्रधान मंत्री राजीव गांधी भी थे, उनकी अंतिम यात्रा में भाग लिया। बचा खान को अफगानिस्तान के जलालाबाद में उनके घर में दफन कर दिया गया। ■

संदर्भ संकेत

1. *एस.पी.सेन (सं), डिक्शनरी ऑफ नेशनल बायोग्राफी, खंड-2, इनस्टिट्यूट ऑफ नेशनल बायोग्राफी: कलकत्ता, 1973, पृ-324*
2. *वही।*
3. *महादेव देसाई, टू सर्वेंट्स ऑफ गॉड, हिंदुस्तान टाइस, दिल्ली, पृ.19.*
4. *वही., पृ.29-30.*
5. *डी.जी. तेंदुलकर, महात्मा, खंड-3, झावेरी एण्ड तेंदुलकर,:बॉम्बे, 1952, पृ, 50-51.*
6. *डी. जी. तेंदुलकर, अब्दुल गफ्फार खान, फेथ इज ए बैटल, पॉपुलर; बॉम्बे, पृ. 44.*
7. *वही. पृ. 56.*
8. *वही. पृ 59.*
9. *बी. पट्टाभिसीतारामैया, दि हिस्ट्री ऑफ इंडियन नेशनल कांग्रेस, खंड-1, पदमा: बंबई, 1935, पृ. 420*
10. *यंग इंडिया, 11 जून, 1931*
11. *डी. जी. तेंदुलकर, अब्दुल गफ्फार खान, फेथ इज ए बैटल, पॉपुलर; बॉम्बे, पृ. 220*
12. *एस.पी.सेन (सं), डिक्शनरी ऑफ नेशनल बायोग्राफी, खंड-2, इनस्टिट्यूट ऑफ नेशनल बायोग्राफी: कलकत्ता, 1973, पृ-325*

प्रो. डॉ. लोकेश चंद्र

बामियान और विराट मूर्तियों की बौद्ध कला

न केवल भारतीय प्रायद्वीप वरन विश्व कला की धरोहर रही बामियान की विराट प्रतिमाएँ भले ही अब स्मृतिशेष मात्र हों, लेकिन विश्वमनीषा को वे अनंत तक झंकृत तो करती ही रहेंगी। बामियान पर एक दृष्टि

बामियान नाम : बामियान पुरातन अफगानिस्तान के गौरव के रूप में प्रतिष्ठित था। पवित्र साम्राज्य, जिसमें शासकों और आमजन की भागीदारी से बनी उसकी शानो-शौकत, पड़ोसी राज्यों के साथ साझी सांस्कृतिक विरासत से युक्त राज्य की स्थिरता और समृद्धि... यह सब उन विराटकाय मूर्तियों की तेजस्विता में सम्मिलित था। 'भा' धातु से व्युत्पन्न बामियान शब्द का अर्थ ही है प्रकाश और दमक। 'भा' का अर्थ है चमकदार या प्रकाशमान। बामि-यान 'प्रकाशमान महानगर था।'

बामियान लमघन या लम्कान घाटी में स्थित है। संस्कृत में इसका रूप 'रम्यक' है। चीनी त्रिपिटक आर्यस्थिर ने 'रम्यक सूत्र' का 388-407 में अनुवाद किया। पालि ग्रंथों में रम्म, रम्मक और रम्मवती वस्तुतः दो बुद्धों - दिपंकर और कोंडञ्ञ का जन्म स्थान है। दिपंकर और कोंडञ्ञ अतिदेव यहां रेवता बुद्ध के समय रहते थे। विष्णु पुराण में यह सुखद निवास है। 'रम्या' एक नदी का नाम है। महाभारत में 'रम्य ग्राम' एक गांव का नाम भी है। सांख्य दर्शन में 'रम्यक' आठ सिद्धियों या पूर्णताओं में से एक है और पुराणों में यह एक क्षेत्र (वर्ष) है।

16वीं शताब्दी में रचित 'बाबरनामा' में बाबर लमघन घाटी की पहाड़ियों के सौंदर्य और घाटी की उर्वरता का वर्णन करता है। 982 में रचित 'हदूद-अल-आलम' काबुल नदी के मध्यक्षेत्र को 'लमकन का दरिया' कहता है। लमकन, पुराने नाम 'रम्यक' का ही परिचायक है। बामियान तो प्रकाश व समय का कल्पनालोक है। आकारहीन दृश्यों का सपना है, जहां हम शून्य के अथाह विस्तार का पान कर सकते हैं। दो हजार से अधिक गुफाओं का फैला जाल, पास में बहती बामियान नदी, लाल महानगर के आकाश तक उठे हुए खंडहर और डायनामाइट से उड़ा दी गई बुद्ध की विराट मूर्तियां - यह सब निरंतर चलने वाले संघर्षों और क्षण भर में संपन्न होते प्रकाश और अंधकार के आलिंगन, जहां कभी मानव मन से अनीश्वर और उससे भी परे की खोज की थी, की याद दिलाते हैं।

नॉर्दर्न वेइ, जिसका शासन 386-556 तक रहा, के वृतांतों में बामियान के नाम का लिप्यांतरण फान-यांग किया गया है। उन्होंने पश्चिमी क्षेत्र के वर्णन में इसे तुखारिस्तान की सीमा के निकट बताया है। (गोडार्ड, 1928:76)। पेलियट ने सबसे पहले इनकी पहचान की थी। यद्यपि सोपर (1959:270) ने इस पर विश्वास नहीं किया क्योंकि उन्हें लगता था कि युन-कांग की विराट मूर्तियां डैरेल की मूर्तियों जैसी ही हैं। नॉर्दर्न वेइ के वृत्तांतों में डैरेल का नाम नहीं है। नॉर्दर्न वेइ के लोग उत्तर पश्चिमी भारत के निकट संपर्क में थे। फा-युन सू विहार की स्थापना उद्यान के एक भिक्षु सेंग-मा-लो ने की, जिसे सोपर 'भाई मार' का नाम देता है। (1959:109)। एक भिक्षु का नाम 'मार' नहीं हो सकता। इसे संघमल्ल नाम ही पुनः देना होगा। केकय भी उत्तर पश्चिमी भारत से था और उसने टी-एन-याओ के साथ मिलकर 'जातक कथाओं' और 'निदान गाथाओं' का अनुवाद किया। (सा-पाओ-सांग-चिंग) जिन्हें युआन-कांग की गुफा संख्या 9 और 10 में चित्रित किया गया है। युआन कुआंग गुफाओं में बामियान की प्रतिकृतियों को देखते हुए यह संभावना बढ़ जाती है कि ये कार्य वेइ शासकों ने ही किया होगा क्योंकि उत्तर पश्चिमी भारत से उनका गहरा संबंध रहा था। वाट्र्स (1904:1.116) बामियान की दो और 'लिप्यांतरणों' का वर्णन करता है : बाम-यान और वांग-येन। 'वांग-येन' यह दो पदों वाला शब्द है।

ह्वेन सांग 632 में बामियान में था। उसने पश्चिमी जगत के अपने अभिलेखों में इसका लिप्यांतरण तीन पदों वाले शब्द के रूप में बी -'फान-येन-ना,' के रूप में किया। पहला चीनी अक्षर 'फान्' का प्रयोग उन्होंने दो नामों में ब्रह्मा के लिए किया है, ये हैं फान्-शू अर्थात ब्रह्म-दत्त और फान् यू अर्थात ब्रह्मानंद (यू=आनंद, खुशी, गाइल्स 13678)। ऐसा प्रतीत होता

है कि उसने जान बूझकर प्रतीक शब्द ब्रह्मा का प्रयोग किया। यह बामियान में पहले से ही प्रचलित एक लोकप्रिय शब्द व्युत्पत्तिशास्त्र का भी द्योतक है। इसमें दूसरा और तीसरा पद येन-न प्रतीक है 'य-न' अथवा 'यान' का। निश्चय ही यह एकल पद बाम-यान में प्रयुक्त 'यान' नहीं है। ह्यूनसांग ने 'बामयान' को 'ब्रह्म-यान' अथवा 'ब्रहम का रास्ता' समझा। 'ब्रह्म-यान' शब्द वास्तव में लंकावतार-सूत्र में 'देवयान' शब्द के साथ दो बार आता है (संपा0 बुनियू ननजियो 1923:134,322)।

बामी-यान को इरानी शब्द बामी-अन से भी जोड़ा जा सकता है जिसमें 'अन' प्रत्यय स्थानों के नाम के लिए है। संधि से यह 'बामियान' या 'बामि-य-अन' बनता है जिसमें मुखसुख के लिए 'य' ध्वनि का लोप हो जाता है। ईरानी भाषा में बामी का अर्थ 'भव्य' और उदात्त' है। यह बल्ख और बैक्ट्रिया/बुखारा के पीछे जोड़ा जाता है, जैसे 'बल्ख-ए-बामी' अर्थात् 'भव्य बल्ख' जो कि इरानियन दुनिया में पूजित नवबहार के बौद्ध विहार के लिए प्रसिद्ध था। जिसमें कोमोत्तेजक और अद्धितीय चित्र बने थे। यह चीन, मध्य एशिया, भारत और इरान के व्यापार मार्ग के केंद्र में स्थित था, और नवबहार के पुजारी बर्माक लोगों का खलीफा के दरबार में ऊंचा स्थान था। बमार्को ने संस्कृत, ग्रीक और अन्य भाषाओं में से अरबी भाषा में अनेक ग्रंथों का अनुवाद करवाया जिसके परिणामस्वरूप अरब दुनिया में सांस्कृतिक, कलात्मक और वैज्ञानिक क्षेत्रों में उपलब्धियां प्राप्त की। अरबी दुनियां में विज्ञान की उन्नति से यूरोप में नवजगरण आया। बामी शब्द का अर्थ है कला और दर्शन, साहित्य और खगोलशास्त्र में चहुंमुखी विकास और सबसे बढ़कर विशुद्ध विज्ञानों में विकास।

बामियान का अर्थ है प्रकाश और चमक, भव्यता और उदात्तता, अर्थात् 'भव्यता का शहर'। यह अवेस्ता के 'बाम,' पह्लवी-बामीक, अफगानी-बाम के सजातीय हैं। अवेस्ता में बाम्य का अर्थ है 'उदात्त' (गेल्डनर), वीस्पो. बाम (=संस्कृत. विश्व.भाम) सर्वस्व प्रकाशित। ह्वेनसांग से पहले के तीन चीनी अभिलेखों में (ह्वेनसांग बामियान में 632 में था) इसका लिप्यंतरण 'बाम-यान' हुआ है, बाम-इ-यान' उच्चारण चीनी भाषा में नहीं मिलता।

ऋग्वेद और ऋग्वेदोत्तर साहित्य में, संस्कृत में 'भाम- का अर्थ है प्रकाश, उज्ज्वलता भव्यता' है, ऋग्वेद में यह 'भा' धातु से बना है जिसका अर्थ है 'चमकना'। ऋग्वेद 3.26.6 अग्नेर भामम् मरुताम् ओज: में समृद्धि के लिए अग्नि की दिव्यता और पवन की शक्ति की स्तुति की गई है। ऋग्वेद 5.2.10 अग्नि की दिव्यता के विस्फोट की चर्चा करता है (अग्ने:...भाम:')। ऋग्वेद 6.6.3. में स्तुति की गई है, 'हे पवित्र अग्नि तुम्हारी पवित्र अग्नि शिखाएं (भामास:) ऊंची उठें और विनाशकारी शक्तियों का नाश करें। ऋग्वेद 10.3 में कहा गया है कि अग्नि भयावह और शक्तिशाली दूत है जिससे असीम दिव्यता प्रवाहित होती है और जो उज्ज्वल लौ के रूप में दमकती है।

छांदोग्य उपनिषद 4.15.4 में 'भाम-नी' शब्द आया है। जो आगे ले जाती है (नी), प्रकाश (भाम) की ओर। यह पूरा विभाग ब्रह्म के विषय में है। वह (भावातीत) जो अस्तित्व (पुरुष) के रूप में दृश्य है, वही (अक्षिणी) आत्मा है। वह अमर और निर्भय है। वह ब्रह्म है। उसे 'संयद-वाम' अर्थात् सभी इच्छित पदार्थ (वाम) माना गया है। वह 'भाम-नी' अर्थात् सारे लोकों की भव्यता की आरे ले जाने वाला है। अर्थात् जो उसे जानता (अनुभव करता) है वह पूरी सृष्टि में चमकता है। वह प्राणी ही मानवेतर है (तत् पुरूषो मानव:)। वह उन्हें ब्रह्म तक ले जाता है। (स एनान् ब्रह्म गमयति)। यह देवताओं तक पहुंचने का मार्ग है, ब्रह्म तक पहुंचने का मार्ग। (एषा देवपथो ब्रह्मपथा:)। जो इस मार्ग पर चलते हैं वे जीवन और मृत्यु के चक्र से मुक्त हो जाते हैं। यह 'भामनी' ही 'वह अस्तित्व' (तत् पुरुष) है जो साधक को चरम दिव्यता (भाम) की ओर ले जाता है। वह मानवेतर है और ब्रह्म का मार्ग है। यह संदर्भ 'भाम' को ब्रह्म के समतुल्य मानता है। ब्रह्म ही ब्रह्मांड का अस्तित्व है और आत्मस्वरूप है जो कि मनुष्य का सार है। जब ह्वेनसांग ने बामियान को ब्रह्म-यान से संबद्ध किया तो संभवत: वह एक स्थानीय परंपरा का पालन कर रहे थे। तीर्थयात्री का लिप्यंतरण 'फान-येन-न', जिसमें दो बार अंग्रेजी अक्षर 'एन' आता है, संभवत: मूर्धन्य वर्ण 'ण' को व्यक्त करता है, यथा- ब्रह्म-याण, जिसमें अंग्रेजी वर्ण 'आर' ने संस्कृत रूप प्राप्त करने के लिए 'ण' का मूर्धा रूप लिया है (तुलना करें निर्याण और प्रयाण)। वाचस्पति मिश्र की (840 ई.) शंकर के 10,11 ब्रह्मसूत्र पर श्रेष्ठ टीका 'भामती' है।

महावस्तु 1.294.20 भाम कनकमुनि को सात बुद्धो में गिनते हैं, जिसमें एक रूप 'भान' है। भाम बामियान से संबद्ध हो सकता है और यदि ऐसा है, कनकमुनि बामियान निवासी भी रहे हो सकते हैं। जैसे कि अन्य बुद्धों में दीपंकर बुद्ध रम्यक के रहने वाले थे। (वर्तमान लमकान या लघमान) है। कोनाक (-नाम), कोनाक-साह्वय,कोनाक-मुनि,कोनाग-मुनिउसी के नामों के पर्याय हैं (एजर्टन 1953:194)। क्या 'कोनाक' तोखारी भाषा का शब्द हो सकता है? कोम् या 'कौन्' का अर्थ है 'दिन, सूर्य', कोम्ऋकात का अर्थ है 'सूर्य', या फिर क्या उसे कोणार्क के सूर्य से जोड़ा जाना चाहिए।

बौद्ध ग्रंथों में ध्यान के लिए एक स्थान के चयन का विस्तृत विवरण है, जैसा कि 'वैरोचन-आभिसंबोधि-सूत्र' में है। इसे ध्यानपूर्वक चुनना पड़ता था। ऐसा स्थान जो कि पवित्र भी हो और आनंददायी भी। ध्यान प्राकृतिक परिवेश में होना चाहिए, पानी के निकट अथवा पर्वतों में। ध्यान के झेन चित्रों को 'सैनसूई' (सैन=पर्वत + सुइ=जल) कहे जाते हैं और उनमें पर्वतों से झरते झरनों का चित्रण है। बामियान की खड़ी चट्टान के निकट एक नदी बहती है। बामियान अंतर्दृष्टि की चमक थी, प्रकाश की रश्मियां थीं, धर्म के मर्म की ओर प्रांगण से यात्रा थी। अपनी हजारों गुफाओं वाला बामियान ज्ञान का रहस्यमय गर्भगृह था, रहस्य से भरा सुंदर हृदय था। अथर्ववेद 11. 5.10 कहता है कि एक ब्राह्मण के पवित्र ज्ञान का भंडार गुफा में छुपा है। (गुहा निधी निहितौ ब्राह्मणस्य) और शतपथ ब्राह्मण (11.2.6.5) गुफा की तुलना हृदय से करता है (तस्माद् इदम् गुहेव हुदयम। श्वेताश्व उपनिषद 3.20 में गुफा मनुष्य का गहन हृदय है जहां आत्मा निवास करती है (आत्मा गुहायाम्)। ब्रह्म परम ब्योम रूपी गुफा में निवास करता है (ब्रहम यो वेद निहितम् गुहायाम् परमे व्योमन्) (इंडिश स्टडिएन 2.217)। बामियान वह वेदी है जहां सहस्राब्दियां मिलकर एक हो जाती तथा ध्यान की ज्योति से यह दीप्त है और ध्यान की लहरियां वीराने और रहस्य मौन में डूब जाती हैं। भाम, मनुष्य में दैवत्व की भव्यता का प्रकाश है।

बामियान अति प्राचीन पवित्रता लिए हुए है जिसका समय ऋग्वेद, और उपनिषद काल तक जाता है। इस क्षेत्र की बश्गलि और कति भाषाएं, वैदिक शब्दावली बाष्कल और काति तक जाती है। बाष्कल ऋग्वेद का एक लुप्त पाठ है और काति वह वैदिक ऋषि हैं जिनके वंशज कात्यायन हैं। ■

मंथन

सामाजिक व अकादमिक सक्रियता का उपक्रम

'मंथन' की सदस्यता लें

एकात्म मानवदर्शन अनुसंधान एवं विकास प्रतिष्ठान से प्रकाशित शोध त्रैमासिक पत्रिका 'मंथन' की सदस्यता लें। भारत–विचार–दर्शन पर केंद्रित इस पत्रिका की सदस्यता के लिए व्यक्ति/संस्थान कृपया निम्न पते पर सूचित करें और शुल्क एकात्म मानवदर्शन अनुसंधान एवं विकास प्रतिष्ठान के नाम से स्टेट बैंक ऑफ इंडिया, नई दिल्ली, एकाउंट नं. 10080533188, आईएफएससी–एसबीआईएन0006199 में जमा करें।

सदस्यता विवरण

नामः.....

पताः .....

..... राज्यः ..... पिनकोड : .....

लैंड लाइनः ..... मोबाइलः (1)..... (2).....

ई मेलः .....

जन–मार्च 2019 से पुनर्निधारित मूल्य

	भारत में	विदेश में
एक प्रति	₹ 200	US$ 9
वार्षिक	₹ 800	US$ 36
त्रिवार्षिक	₹ 2000	US$ 100
आजीवन	₹ 25,000	

प्रंबध संपादक

'मंथन' त्रैमासिक पत्रिका

28, मीना बाग, मौलाना आजाद रोड., नई दिल्ली–110 011

दूरभाषः 9868550000, 011–23062611

ई–मेलः manthanmagzin@gmail.com, ekatmrdfih@gmail.com